# उपनिषदों की भूमिका

पं० राजाराम प्रोफ़ैसर डी. ए. वी.
कालेज, लाहौर प्रणीत—

सं० १९८० वि० सन् १९२३

बाम्बे मैशीन प्रेस लाहौर।

दूसरी वार १०००] [मूल्य ।-)
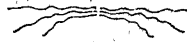
# उपनिषदों की भूमिका।

**पूर्वपीठिका**—उपनिषद् सम्बन्धी बाहरी विचार।

**उपनिषद्**—से तात्पर्य अध्यात्मविद्या वा अध्यात्मविद्या

(१) उपनिषद् किस को कहते हैं।

के ग्रन्थों से है। उपनिषद् शब्द रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अक्षरार्थ, उप + निषद्=पास + बैठना, अर्थात् वह विद्या जो गुरु के पास बैठ कर सीखी जाती है। उपनि पूर्वक सद् धातु पास बैठने के अर्थ में प्रयुक्त भी हुआ है। "विश्वामित्रे ह्येतदहः शंसि-ष्यन्तामिन्द्र उपनिषसाद" (ऐत० आ० २।२। ३।१) यहां उपानिषससाद का अर्थ है "पास बैठा"। इस लिये स्वरसतः प्राप्त इस प्रयुक्त और संगत अर्थ को त्याग कर अप्रयुक्त अर्थ में धावन करना अनावश्यक है।

(२) उपनिषदों के लिये गुरु की आवश्यकता

उपनिषदों में अध्यात्मविद्या के वे रहस्य भरे हुए हैं, जो बिना पूरे आचार्य के खुल नहीं सकते। अतएव कहा है—

आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्राप-यतीति। (छा० ४।६।३)

अर्थ - आचार्य से ही जानी हुई विद्या असली भलाई तक पहुंचाती है। तथाः—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
( श्वेता॰उप॰ ६ । २३ )

अर्थ - जिसकी परमात्मा में परमभक्ति है, और जैसी परमात्मा में है, वैसी गुरु में है, उस महात्मा को ये कहे हुए विषय प्रकाशित होते हैं॥ मुण्डक में तो यह स्पष्ट आज्ञा ही है, किः—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। ( मुण्ड॰ १ । २ । १२ )

अर्थ—उसके जानने के लिये वह समिधा हाथ में लेकर उस गुरु की ही ओर जाए, जो श्रोत्रिय ( वेद का जानने वाला ) और ब्रह्मनिष्ठ ( ब्रह्म में निष्ठा वाला ) है।

अतएव उपनिषदों में स्थान २ पर गुरु से विद्या पढ़ने का ही उपदेश पाया जाता है।

( ३ ) उपनिषदों की संख्या। — उपनिषदों की संख्या तो बहुत है, पर उन में से प्रधान उपनिषदें यही दस मानी गई हैंः—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा *।

इनके सिवाय और जो उपनिषदें हैं, उनमें से बहुत सी तो सम्प्रदायी लोगों की अपने २ मन्तव्य के पक्ष में रची हुई हैं, पर कई एक केवल अध्यात्मविद्या की ही प्रतिपादक भी हैं, तथापि इन दस में अध्यात्मविद्या की कोई त्रुटि शेष नहीं रही है।

(४) उपनिषदों का मान।

भारतवर्ष की ब्रह्मविद्या, जिस का सिक्का अब सारी दुनिया मान रही है, उसके भण्डार ये ग्रन्थ हैं। जिन्हों ने इन ग्रन्थों का अभ्यास किया है, और अन्य मतों की उन पुस्तकों का भी अभ्यास किया है, जो इस विषय पर लिखी गई हैं, वे बड़े ऊंचे और मस्त स्वर से पुकार उठे हैं, कि दुनिया में यही अकेली पुस्तकें हैं, जो मनुष्य की सच्ची शान्ति का हेतु हैं। इनके बराबर न दुनिया में मस्ती देने वाली और न परलोक की शान्ति देने वाली कोई और पुस्तक है। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, परलोक का तत्त्व, उपासना की रीति, उपासना के द्वारा लौकिक और पारलौकिक फलों की प्राप्ति, सृष्टि का तत्त्व, आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन का उपाय, और परमानन्द की प्राप्ति, यह सब विचार इन प्राचीन ग्रन्थों में पाए जाते हैं, और इनका शान्तिदायक उत्तर पाया जाता है। और ऐसा कौन है, जो आज कल भी प्राचीन काल के इन

---

* इन दस को और इनके साथ ग्यारहवीं श्वेताश्वरको सरल हिन्दी भाष्य समेत हमने छपवा दिया है।

शुद्ध प्रश्नों और पवित्र विचारों को पढ़ कर अपने हृदय में नए भावों का उदय न अनुभव करता हो। और अपनी आंखों के सामने नया प्रकाश न पाता हो।

( ५ ) मुसलमानों से मान।

उपनिषदों की चर्चा सुन कर मुसलमानों को भी अपने समय में इस ओर रुचि हुई और अकबर के समय में इनकी बहुत चर्चा हुई, तदनन्तर अकबर के प्रपोते **दाराशिकोह** ने बड़े परिश्रम और व्यय के साथ उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद करवाया। यह उसका एक बड़ा भारी उपकार और उदारता का काम था। इस से लोगों को बहुत बड़ा लाभ पहुंचा। उपनिषदों को पढ़कर स्वयं दाराशिकोह के चित्त में पुराने आर्यों का इतना बड़ा मान वढ़ गया, कि उसने उपनिषदों की भूमिका में तत्कालीन हिन्दुओं की गिरी हुई अवस्था पर बड़ा शोक प्रकट किया, वह लिखता है "ताइफ़ःए क़दीमए हिन्दरा बरवहदत इन्कारे व बर मुवहदां गुफ्तारे नेस्त, बलिक पायाए एतबारे-ऽस्त, बरखिलाफ़ जुहलाए ईवक़, कि खुद इलमहारा करार दादः, व दर पै आज़ार व तकफ़ीर बर मुवहदां उफ़तादः अन्द, व जमीए सुखनाने तौहीद रा रद्द मे नुमायन्द"=अर्थ--हिन्दुओं के पूर्वजों को न एकता से इन्कार है, और न एकता मानने वालों पर कोई वक्तव्य है, बलिक यह बात पूरे तौर पर विश्वास कीजाती है, विरुद्ध इसके, कि आज कल के मूर्ख लोग, जिन्होंने स्वयं नए उपदेश घड़ लिये हैं, और एकता मानने वालों को सताने और कष्ट देने की चिन्ता में पड़े हैं, और एकता के सारे वाक्यों का खण्डन करते हैं॥ दाराशिकोह के

ये वचन उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों के ध्यान के योग्य थे। हिन्दुओं के इस लिये, कि वह एक परब्रह्म की उपासना और उसके साक्षात् दर्शन की जगह भिन्न २ देवी देवताओं की मूर्तिपूजा को दे चुके थे। और मुसलमानों के इस लिये, कि वह हिन्दुओं की वर्तमान अनेक देवी देवताओं की पूजा को देख कर उनके धर्म को ही मूर्तिपूजा का धर्म वा एकता ( वहदानीयत ) के विरुद्ध धर्म समझते थे। अस्तु, दाराशिकोह के अनुवाद से और आर्य लोगों के संन्यासियों की कृपा से उपनिषदों के शुद्ध विचार एक बार फिर जोर के साथ फैलने लगे। प्रायः साधारण मुसलमानों का भी, पर विशेषतः मुसलमान फ़कीरों का ध्यान उपनिषदों की ओर अधिक खिच गया। उपनिषदों ने उनके हृदयों को स्वाधीन कर लिया, उन पर अपना रंग चढ़ा दिया। यह रंग उन के मस्त श्लोकों ( नज़्मों ) में अब भी वैसी ही झलक मारता है, जो साफ उपनिषदों के रंग की झलक है। पर हमें शोक से कहना पड़ता है, कि हिन्दुओं ने मुसलमानों के इस झुकाव से भी उलटी हानि उठाई। क्योंकि जो हिन्दु उन मुसलमान फ़कीरों के सत्संगी बनें, उनमें से जिन्होंने खानपान के बन्धन को तोड़ा, वह दूसरे हिन्दुओं से छेक दिये गए। उपनिषदों ने तो मुसलमानों को हिन्दुओं की ओर झुकाया था, पर हिन्दुओं ने मुसलमानों को अपने में नहीं लिया, प्रत्युत अपने ही भाइयों को उनमें मिला दिया। दूसरी बात हमें शोक से यह कहनी पड़ती है, कि उपनिषदों का ज्ञान जो एक बार फिर फैलने लगा था, वह आरम्भ में ही विरुद्ध कारणों के उपस्थित होजाने से फैलने न पाया। निदान मुसलमानों की

योग्यता के समय में उपनिषदें उनसे एक बार अपनी योग्य प्रतिष्ठा पा चुकी हैं।

(६) योरुप वासियों से मान।

जर्मन का प्रसिद्ध तार्किक ( फिलासफर ) शोपनहार लिखता है "हर एक पद से गहरे, नए, और ऊंचे विचार उत्पन्न होते हैं; भारतवर्ष का पुराना वायुमण्डल हमें घेरे हुए है, और नयी रोशनी के नए विचार भी हमारे चारों ओर हैं, पर सारे संसार में मूलतत्त्वों को छोड़ कर किसी दूसरी विद्या का अभ्यास ऐसा उपयोगी और हृदय को ऊंचा बनाने वाला नहीं है, जैसा कि उपनिषदों का। इसने मेरे जीवन में मुझे शान्ति दी है, और यह मरने के समय भी शान्ति देगा"।

यह मान, जो शोपनहार ने उपनिषदों को दिया है, इस से बढ़ कर मान किसी ग्रन्थ का हो ही नहीं सकता। योरुप में दिनों दिन उपनिषदों का आदर बढ़ रहा है, और इन के रहस्य समझने के लिये नित्य नए प्रयत्न हो रहे हैं। और एक दिन आएगा, जब कि विद्या रसिकयोरुप के विद्वान् भी इनके सच्चे आशय पर पहुंच जाएंगे।

(७) आर्य्यों से मान

यह प्रतिष्ठा तो उन लोगों ने की है, जिन को उपनिषदें एक अलभ्य वस्तु के तौर पर मिली हैं। पर आर्य लोग जिन की यह जद्दी जायदाद हैं, उन्होने तो इन की और भी बढ़कर प्रतिष्ठा की है। दर्शनशास्त्र इन के अक्षर २ को प्रमाण मानते हैं, और एक पूरा दर्शन केवल उपनिषदों के विचार के लिये ही रचा गया

है, जिस का नाम "वेदान्तदर्शन, ब्रह्मसूत्र, शारीरकसूत्र, ब्रह्ममीमांसा, वेदान्तमीमांसा, अथवा उत्तरमीमांसा" है। उपनिषदों की प्रतिष्ठा के हेतु से इस दर्शन ने भी इतनी प्रतिष्ठा पाई है, कि जितने भाष्य और टीके इस पर बने हैं, किसी और दर्शन पर नहीं बने। सीधा उपनिषदों पर भी बहुत से भाष्य और टीके बने हैं, और बन रहे हैं। उपनिषदों के पीछे की सारी संस्कृत पुस्तकों पर उपनिषदों का रंग चढ़ा हुआ साफ प्रतीत होता है। भगवद्गीता जो इस समय सारे धार्मिक जगत् में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जारही है, सारी ही उपनिषदों के रंग से रंगी हुई है। निदान उपनिषदों ने अपनी प्रतिष्ठा सब से करवाई है, करवा रही हैं, और करवाती रहेंगी क्योंकि यह इस के योग्य हैं। इन ग्रन्थों का हर एक उपदेश एक विशेष रस से भरा हुआ होता है। यह वह अमर ग्रन्थ हैं, जो बहुत पुराने समय से चले हुए हैं, और बराबर प्रतिष्ठा पाते चले आए हैं।

(८) उपनिषदों का अभ्यास

ब्रह्मविद्या के रसिकजनों ने सदा इन ग्रन्थों के सामने अपना सिर झुकाया है, उन के लिये इन का विचार नित्य नया है। इस में संदेह नहीं, कि मूल ग्रन्थों का अभ्यास बहुत बड़ा रसदायक है। पर यह एक बड़े परिश्रम का काम भी है। मूल उपनिषदें संस्कृत भाषा में हैं, और संस्कृत भी नवीन नहीं, प्राचीन है, तिस पर भी उपनिषदों का समझना केवल शब्दार्थ जानने पर ही निर्भर नहीं रखता, उन के समझने के लिये वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों से पूरा परिचय होना

चाहिये। और फिर उसके साथ अपना अनुभव भी साथी हो। तब इन के रहस्य समझ में आ सकते हैं। यह काम संस्कृत के अभ्यास में जीवन बिताने वालों का है। दूसरों के लिये तो उन के शुद्ध अनुवाद * का अभ्यास वा अनुवाद की सहायता से मूल का अभ्यास ही उपयोगी हो सकता है।

(९) अभ्यास की रीति।

उपनिषद् के अभ्यास के लिये चाहे थोड़ा समय प्रति दिन दो, पर एकान्त में एकाग्र हो कर इस का अभ्यास करो, और जिज्ञासु बन कर इस के उपदेश सुनो। जल्दी २ बहुत दूर तक पढ़ जाने का ख्याल मत करो, बल्कि इस को विचारते समय इस का रस पान करो, और जो तरंग तुम्हारे हृदय में उठते हैं, उनको उठने का अवसर दो, जो प्रेम तुम्हारे हृदय में बहने लगता है, उस की धारा को मत रोको, जो आनन्द तुम्हारे देह को घर

---

* अनुवाद करने वाले का काम यह है, कि पहले मूल को पूरी तरह समझे, और फिर सचाई (ईमानदारी) से अनुवाद करे। यही शुद्ध अनुवाद हो सकता है। पर उन लोगों की दशा शोचनीय है, जो बिना समझे अनुवाद करते हैं, और अपना अर्थ साधने के लिये जान बूझ कर सचाई से परे हट जाते हैं। उन को यह साहस इस लिये होता है, कि वह अपने श्रद्धालुओं को ऐसा धोखा दे सकते हैं। सो तुम ध्यान रक्खो, कि यदि मूल से किसी ग्रन्थ को नहीं समझ सकते हो, तो वही अनुवाद हाथ में लो, जो परिश्रम से और धर्म्मभाव से हुआ है।

कर ब्रह्माण्ड में फैलना चाहता है, उस को फैलने दो, जो रस तुम्हारे आत्मा को तृप्त करने लगा है, उस को तृप्त करने दो। बल्कि ऐसी अवस्था में तुम पाठ का ध्यान ही छोड़ दो. और जो कुछ तुम अपने आप को अनुभव करने लगे हो, उस में मग्न हो जाओ। इस प्रकार के अभ्यास से तुम केवल इन वचनों के वक्ता ही नहीं बनोगे, किन्तु उस रस के अनुभविता भी बन जाओगे, जो रस ऋषियों ने इन में बहाया है।

(१०) अभ्यास का फल।

ब्रह्मविद्या के अभ्यास का फल उस उच्च जीवन की प्राप्ति है, जहां मान अपमान, स्तुति निन्दा, सुख दुःख, हर्ष शोक सब तुल्य बन जाते हैं। हृदय इतना गम्भीर हो जाता है, कि ये द्वन्द्व उस में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। हृदय एकरस शान्त रहता है, इस शान्त हृदय में आत्मा और परमात्मा के दर्शन मिलते हैं। यही मानुष जीवन का परम उद्देश्य है, इस को पूर्ण करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। विश्वास रक्खो, यह अनमोल जन्म परमात्मा के दर्शन से ही सफल होता है, जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं :—

**यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।**

(बृह० ३।८।१०)

अर्थ—जो इस अविनाशि को जाने बिना हे गार्गि! इस लोक से चल बसता है, वह कृपण है (कृपा का पात्र है, उस पर तरस आता है) हां जो इस अविनाशि को जान कर हे गार्गि! इस लोक से चलता है वह ब्राह्मण है।

## उत्तरपीठिका–उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय।

(११) प्रकृति, पुरुष और परमात्मा का विवेक

उपनिषदों का मुख्य विषय परमात्मा के साक्षात् दर्शन हैं, जो प्रकृति, पुरुष और परमात्मा के विवेक अर्थात् निखेरने से लब्ध होते हैं। प्रकृति, पुरुष और परमात्मा यही तीन मूलतत्त्व हैं, और जो नाम सत् (हस्ती) है, सब इन्हीं तीनों के सम्बन्ध का प्रकाश है। प्रत्येक जीवित देह में यह तीनों विद्यमान हैं। हैं सही, पर ऐसे मिले हुए, कि अर्वाग्दृष्टि से निखेरे नहीं जासकते। दूध और पानी ऐसे मिलते हैं, कि निखेरना कठिन होता है। हां जब हंस उस में चोंच डालता है, तो दूध और पानी साफ निखर जाते हैं। यह दूध और पानी स्थूलवस्तु हैं,उनको हंस निखेर सकता है। पर प्रकृति, पुरूष और परमात्मा जो कि परमसूक्ष्म हैं, उन को वही निखेर सकता है, जो परमहंस है। पर याद रक्खो, परमहंस बनना भी उपनिषद् से ही सीख सकते हो, क्योंकि यह कोई बाहर का वेष नहीं, आत्मा की अवस्थाविशेष है।

अस्तु, प्रकृत यहां यही है, कि इन तीनों मूलतत्त्वों को निखेर कर दिखलाना उपनिषद् का मुख्य तात्पर्य है। इस के समझने के लिये दृष्टान्त के तौर पर किसी जीवित देह को लो। यहां दो बातें स्पष्ट दीखती हैं, एक तो स्थूल देह है, जिस को हम आंखों से देखते हैं, हाथों से छूते हैं। और दूसरी उस के अन्दर एक चेतनता है, जिस को न हम देख सकते हैं, न छू सकते हैं, पर उस से इनकार भी नहीं कर

सकते हैं। क्योंकि हम जो कुछ जानते हैं, सब उसी से जानते हैं। हमारे देह में सारा उजाला उसी चेतनता का है।

जिस तरह लैम्प के अन्दर एक बत्ती जल रही है, तो लैम्प प्रकाशमान है। बत्ती बुझ जाती है, तो सारे अन्धेरा हो जाता है। इसी प्रकार इस शरीर के अन्दर भी एक जोत जल रही है, तो शरीर में सारे चांदना हो रहा है। अर्थात् हम आंखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, किसी अंग को छूओ, झट मालूम कर लेते हैं। कहीं भी अन्धेरा नहीं, सारे ही चांदना है। पर जब अन्दर की जोत बुझ जाती है, तो फिर कहीं भी चांदना नहीं रहता, सारे अन्धेरा हो जाता है। अब आंखें वही हैं, पर देखती नहीं, कान वही हैं, पर सुनते नहीं, शरीर भी वही है, पर छू कर देखो, उसे कुछ पता ही नहीं। ऐसा क्यों हो गया? इस लिये कि अब उस में वह जोत है नहीं, जो इस को प्रकाशयुक्त बनाए हुई थी। यही जोत जीवात्मा है। जीवात्मा चेतन है। शरीर जड़ है, प्रकृति से बना है। इस जड़ प्रकृति और चेतन आत्मा के मेल का ही यह सारा खेल है। अब इस मेल का मिलाने वाला, इन दोनों से अलग दोनों से अधिक शक्ति, दोनों के अन्दर स्थित अन्तरात्मा है। यह जीवन हमारा है, पर हम जानते नहीं, कि किस तरह बना है, और किस तरह पल रहा है। पर जब भूख और प्यास लगती है, हम खा पी लेते हैं, बस इतना हम जानते हैं, आगे सब कुछ वही जानता है। हम इस जीवन से पहले कई जीवन भोग आए हैं, और आगे भोगेंगे। पर हम से वे ओझल हैं, हम उन को नहीं जानते, केवल इसी को जानते हैं, इस लिये

इसी से प्रेम है, अतएव हम इस को छोड़ना नहीं चाहते। पर यह हमारे अधीन की बात नहीं. हम एक महाशक्ति की व्यवस्था में बर्त रहे हैं, वह जहां चाहती है, ले जाती है। वस्तुतः हमारी भलाई में वही शक्ति सदा लगी रहती है। हम अपना वर्तमान जानते हैं, वह हमारा भूत भविष्यत् जानती है, और हमें हमारे सुधार के रस्ते पर लाती रहती है, जब तक कि हमारा मोक्ष नहीं हो लेता। यही महाशक्ति परमात्मा है, जो हमारे रोम २ में बस रहा है, और हमारे आत्मा का भी आत्मा हो कर हमारे आत्मा में स्थित है। और यह जिस प्रकार हमारे शरीर के रोम २ में स्थित है, इसी प्रकार यह सारी सृष्टि के रोम २ में स्थित है, और सारी सृष्टि को पूर्ण करके उस से परे तक फैल रही है।

## प्रकृति का सविस्तर वर्णन।

(१२) प्रकृति का स्वरूप — प्रकृति वह मूलतत्व है, जिस से यह जगत् बना है। माया भी उसी को कहते हैं।

चेतन के सिवाय और सारा माया का ही पसारा है।

(१३) प्रकृति का कार्य — इस लिये उस के कार्य की कोई थाह नहीं है। पर हम संक्षेपतः उसके कार्य को तीन भागों में बांट सकते हैं-देह, इन्द्रिय और विषय।

(१४) देह का स्वरूप — जीवात्मा के लिये भोग भोगने का जो घर है, अर्थात् जिस में बैठ कर जीवात्मा भोग भोगता है, वह देह है।

देह कितने प्रकार के हैं, यह संख्या न अब तक हुई है, न होना सम्भव है। जीवात्मा जिस २ योनि में रहता है, वह सब देह हैं। इन योनियों से जल, स्थल और अन्तरिक्ष सभी भरपूर हो रहे हैं। जहां जैसी योनियों का होना सम्भव है, वहां वैसी योनियां पाई जाती हैं। तथापि योनियों के मुख्य भेद चार किये गए हैं (१) उद्भिज्ज, उगने वाले, जैसे सब प्रकार के तृण, वेल, झाड़ी, ओषधि, बनस्पति आदि (२) स्वेदज, पसीने से उत्पन्न होने वाले, जैसे जूं लीख आदि (३) अण्डज, अण्डे से उत्पन्न होने वाले, जैसे पक्षी, सर्प आदि (४) जरायुज, जेर से उत्पन्न होने वाले, जैसे मनुष्य पशु आदि ॥

(१५) देह भेद वा योनि भेद

इस देह में जीवात्मा के पास काम करने और जानने के लिये जो साधन हैं, वे इन्द्रिय कहलाते हैं।

(१६) इन्द्रियों का स्वरूप।

इन्द्रिय दो प्रकार के हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय।

(१७) इन्द्रियों के दो भेद।

कर्मेन्द्रिय वे हैं, जिन से जीवात्मा काम करता है। यह पांच हैं—वाक् (वाणी) हस्त (हाथ) पाद (पाओं) पायु (गुदा) उपस्थ (स्त्री वा पुरुष का चिन्ह)। इनके काम यह हैं–वाणी

(१८) कर्मेन्द्रिय

का काम बोलना है, हाथ का पकड़ना, पाओं का चलना, गुदा का मल त्याग, और उपस्थ का मूत्र त्याग तथा सन्तानोत्पादन।

ज्ञानेन्द्रिय वे हैं, जिन से आत्मा जानता है, वह दो प्रकार के हैं, बाह्येन्द्रिय ( बाहर के इन्द्रिय ) और अन्तरिन्द्रिय ( भीतर के इन्द्रिय )।

( १९ ) ज्ञानेन्द्रिय

बाह्य इन्द्रिय पाच हैं--चक्षु ( नेत्र ) श्रोत्र ( कान ) घ्राण ( नाक ) रसना ( जिह्वा ) और त्वचा ( चमड़ा ) इन से रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का ज्ञान होता है अर्थात् इन से जीवात्मा देखता, सुनता, सूंघता, चखता और छूता है।

( २० ) बाहर के इन्द्रिय।

अन्तरिन्द्रिय मन है। मन से सुख दुःख का ज्ञान होता है, दूसरे ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय सब मन के अधीन काम करते हैं। मन को ही अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण वृत्तिभेद ( अपने काम के भेद ) से चार प्रकार का कहलाता है, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, संकल्प विकल्प करने से मन, निश्चय करने से बुद्धि, स्मरण करने से चित्त, और अहंभाव (मैं हूं, अपनत्व) के प्रकट करने से अहङ्कार कहलाता है। जैसे दूर से किसी पदार्थ को देख कर मनुष्य सोचता है, कि यह क्या है, फिर निश्चय करता है, यह सेब है। फिर स्मरण करता है, यह स्वादु है

( २१ ) मन वा अन्तःकरण।

और भूख का दूर करने वाला है, तब वह इस नतीजे पर पहुं-चता है, कि मैं इसको खाउं, अथवा यह मेरे लिये है, तब वह उस को खालेता है। अब यह चार काम हुए हैं, सोचना, निश्चय करना, स्मरण करना और अपने साथ सम्बन्ध जोड़ना। यह काम चारों एक मन के ही हैं। पर इन चारों के भेद से वह मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन चार भिन्न २ नामों से कहा जाता है।

(२२) विषय का वर्णन।

जीवात्मा जिन पदार्थों को भोगता है, वह विषय हैं। प्रकृति से जो कुछ बना है, वह या तो देह और इन्द्रिय हैं, या इनके सिवाय जो कुछ है, वह सब विषय है। क्योंकि इस जगत् में जो कुछ रचना हुई है, वह सब किसी न किसी जीव के उपभोग में आती है। परमात्मा ने यह सारा जगत् रचा ही अपनी प्रजा के उपभोग के लिये है। इस लिये हर एक वस्तु किसी न किसी के उपभोग का साधन बनती है, जो जिस के उपभोग का साधन बनती है, वह उसके लिये विषय है। यह सब (देह, इन्द्रिय और विषय) प्रकृति का कार्य है।

(२३) माया ब्रह्म की शक्ति विशेष है।

माया स्वतन्त्रशक्ति नहीं, किन्तु ब्रह्म की एक शक्ति विशेष है। जो ब्रह्म के अधीन कार्य करती है। अर्थात् ब्रह्म इस में आत्मा है, और यह उसके शरीर के तौर पर है। जिस तरह मकड़ी अपने शरीर से तन्तु निकाल कर तनती है, इसी तरह ब्रह्म माया से इस जगत् को निकाल कर तनता है।

जिस तरह मनुष्य का बीज गर्भाशय में जाकर प्रति-

( २४ ) माया का परिणाम । } दिन और प्रतिक्षण अपने रूप को बद-लता हुआ कई आकारों में से हो कर मनुष्य के आकार में आता है, इसी प्रकार माया भी ब्रह्म की प्रेरना से प्रतिदिन और प्रति क्षण अपने आकारों को बदली हुई कई आकारों में से होकर पहले पृथिव्यादि लोकों के रूप में आई, और उससे फिर आगे क्रमशः परिणत होती हुई घास, वल्ली, ओषधि, वनस्पति, कीट पतंग, पशु पक्षी और मनुष्य के आकार में परिणत हुई है । इसी क्रमशः परिवर्तन ( तबदीली ) को परिणाम कहते हैं । यह सारा जगत् प्रकृति के परिणाम का फल है । ब्रह्म जो माया का अन्तरात्मा है, उस की इच्छा से यह परिणत होने लगती है, और जैसे२ उसकी इच्छा है, उसी तरह यह परिणत होती चली जाती है । परमात्मा की इच्छा अपनी प्रजा के लिये शुभ है, इसी लिये प्रकृति जीवों की भलाई में लगी रहती है । जब तक किसी जीव का परम कल्याण ( मोक्ष ) नहीं होता, तब तक यह उसके सुधार में लगी रहती है । निदान इस माया के अन्दर चितिशक्ति सदा एक-रस रहती है, और यह माया उस के ऊपर उसकी इच्छा से बदलती रहती है ।

जो कुछ इस जगत् में अत्यन्त असत् है, वह कभी हो (२५) परिणाम वादमें कार्यकारण का अभेद। } नहीं सकता, और जो सत् है, उसका कभी स्वरूपनाश नहीं होता । उत्पत्ति और विनाश रचना के केवल बदल जाने का ही नाम है । जैसे

पहले एक मट्टी का गोला होता है, वह मट्टी की एक प्रकार की रचना है। जब कुम्हार उस से घड़ा बनाता है, तो वह उसी मट्टी को एक दूसरी रचना में बदल देता है, अब वह मट्टी गोला नहीं रही, किन्तु घड़ा बन गई है। यही गोले का नाश और घड़े की उत्पत्ति है। वस्तुतः न कुछ आया है, न गया है, वही मट्टी जो पहले एक आकार में थी, अब दूसरे आकार में है। मट्टी ज्यों की त्यों है, केवल आकार बदल गया है। यह ऐसे ही है, जैसे एक चादर को लपेट कर गोला बना दें, तो वह उसका एक आकार है, चौरस बिछा दें, तो वह दूसरा आकार है, पर चादर वही एक है। इसी प्रकार उसी मट्टी को गोल लपेट कर गोला बना लो, थाल की तरह फैला कर थाल बनालो वा घड़े की तरह पेट ग्रीवा और मुख वाला बना कर घड़ा बना लो। निःसन्देह गोले से घड़े का आकार भिन्न है, पर मट्टी जो गोले की थी, वही घड़े की है। यही कार्य कारण का अभेद है अर्थात् मट्टी के सारे कार्य मट्टी ही हैं। अब यदि मट्टी की परीक्षा करें, तो यह भी मूलतत्त्व नहीं, यह भी घड़े की तरह बनी हुई है। सो जैसे घड़ा मट्टी से अभिन्न है, इसी प्रकार मट्टी उस तत्त्व से अभिन्न है, जिस से वह बनी है। इस प्रकार आगे २ स्थूल से सूक्ष्मसूक्ष्म की खोजना करते हुए जो अन्त में जाकर परम सूक्ष्म मूलतत्त्व है, वह माया है, वह प्रकृति है, यह सारा दृश्य उस का परिणाम मात्र (तबदीली मात्र) है, और उस से अभिन्न है।

ऊपर कह आए हैं, कि रचना बदलती है, पर द्रव्य

( २६ ) माया अनादि और अनन्त है ।

सर्वत्र वही रहता है । उस विशेष रचना से पूर्व भी वह द्रव्य विद्यमान है, उस विशेष रचना के समय में भी द्रव्य वही है, क्योंकि यह उसी द्रव्य की ही तो रचना है, और फिर उस विशेषरचना के नाश में भी वह द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहेगा। न वह कभी उत्पन्न हुआ न वह कभी नाश होगा । न उसका आदि है, न अन्त होगा। यही उस द्रव्य की अनादिता अनन्तता है। ऊपर सिद्ध किया गया है, कि इन सारे द्रव्यों का मूल द्रव्य माया है, शेष सारे द्रव्य उस से बने हैं, अतएव मूलतत्त्व नहीं हैं। बस वह मूलद्रव्य माया अनादि और अनन्त है, और उससे बना हुआ विश्व सादि और सान्त है ।

( १७ ) प्रवाह से अनादि ।

यह विश्व जिसको ऊपर सादि और सान्त कहा है, यह भी प्रवाह से अनादि और अनन्त है। प्रवाह से अनादि और अनन्त का यह तात्पर्य्य है, कि, जिस तरह यह विश्व अब बना हुआ है, इसी तरह से पहले भी बनता चला आया है। कब से ऐसा बनना आरम्भ हुआ है, इसका कोई आदि नहीं। और आगे भी इसी तरह बनता चला जाएगा। कब तक बनता चला जाएगा, इस का कोई अन्त नहीं। क्योंकि जिन कारणों से यह अब बना है, वह सदा से हैं, और सदा रहेंगे। अतएव कहा है 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'=परमात्मा ने पहले की नाई बनाया ( ऋग् १०।१९०।३)। इसी प्रकार जीव के कर्म भी प्रवाह से अनादि हैं।

# परमात्मा का वर्णन।

(२८) उपनिषदों में परमात्मा के वर्णन का प्रकार।

उपनिषदों में परमात्मा का वर्णन दो प्रकार से किया है, एक उसके केवल स्वरूप मात्र का, दूसरा जगत् में उसके प्रकाश (ज़हूर) का। उसका स्वरूप इस जगत् से अत्यन्त विलक्षण है, पर प्रकाश सारे ही जगत् के अन्दर है। क्योंकि इस जगत् की स्थिति प्रवृत्ति सारी उसके अधीन है।

(२९) परमात्मा के स्वरूपका वर्णन।

इस जगत् के अन्दर, इस जगत् से विलक्षण जो उसका अपना निजरूप है, वह उसका स्वरूप है, और उसका वर्णन स्वरूप का वर्णन है। परमात्मा का जो स्वरूप है, वह इस सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर भी इस ब्रह्माण्ड के वारपार फैला हुआ है। यह प्राकृत जगत् जो परे से परे है, जिस का अन्त चिन्तन में भी नहीं आसकता, यह भी उसके स्वरूप की अपेक्षा से बहुत छोटा है, और वह इस से बहुत बड़ा है 'एतावानस्य महिमाऽतो-ज्यायाँश्च पूरुषः'=(यह) इतनी बड़ी (सारी) इस की महिमा है, और पुरुष इससे बड़ा है (ऋग्० १० । ९० । ३) अब यह स्पष्ट है, कि इस जगत् से परे जो उसका स्वरूप है, वह किसी दूसरे तत्त्व से मिला हुआ नहीं, किन्तु सारे तत्त्वों से निखिरा हुआ स्वरूप मात्र है। बस यह जो निखिरा हुआ स्वरूपमात्र है, यही उसका स्वरूप है, जगत् के अन्दर भी, और जगत के बाहर भी। इसका वर्णन सत्य, ज्ञान और आनन्द (सच्चिदानन्द) इन तीन शब्दों से होता है, अथवा नेति नेति शब्दों

से* इसी को परब्रह्म, शुद्धब्रह्म अथवा श्यामब्रह्म कहते हैं।

ऊपर कह आए हैं, कि परमात्मा इस जगत् से परे भी है, और इस जगत् में भी सारे परिपूर्ण हो रहा है। पर यह जानना आवश्यक है, कि वह इस में इस तरह से परिपूर्ण नहीं, कि चुपचाप इस के अन्दर पड़ा हो, किन्तु इस का प्रभु इस का परिचालक इस का अन्तर्यामी नियन्ता बन कर इस में बसा हुआ है। अतएव इस जगत् की हरएक घटना उसकी महिमा को प्रकाशित करती है। जिस तरह एक जीते जागते शरीर से जीवात्मा की महिमा भासती है, इसी तरह जीते जागते जगत् से सब जगह से परमात्मा की महिमा भास रही है। सो इस रीति पर उसके रचित पदार्थों से उस की महिमा का प्रकाश, उसका प्रकाश कहलाता है।

(३०) जगत् में परमात्मा के प्रकाश का वर्णन।

जब हम जगत् में उसका प्रकाश देखते हैं, तो वह हमें

---

*निषेधवाचक शब्दों से, जैसे—'एतद्वैतदक्षरंगार्गिब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहित मस्नेहमच्छायमतमः'=इसको हेगार्गि ब्राह्मण अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है न लंबा है, वह न लाल है न स्नेह ( चिकनाई ) वाला है, न छाया वाला है, न अंधेरे वाला है। (बृह० ३। ८। ८) इत्यादि। सविस्तर देखो, उपनिषदों की शिक्षा, विषय—परब्रह्म का वर्णन।

(३१) इस प्रकाश से परमात्मा का वर्णन } इस जगत् के अन्दर समाया हुआ जगत् के साथ मिला हुआ प्रतीत होता है। न यह जगत् उससे निखिरा हुआ प्रतीत होता है, न वह इस से निखिरा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु जैसे अग्नि में तपा कर लाल किया हुआ लोहा ठण्डे लोहे से विलक्षण होजाता है। विलक्षण ही प्रतीत होता है, और विलक्षण ही कर्म करता है। क्योंकि उस में एक अग्नि प्रवेश किये हुए है। जो ठण्डे लोहे में नहीं है। अथवा जैसे एक सजीव शरीर निर्जीव शरीर से विलक्षण होता है। विलक्षण ही प्रतीत होता है, और विलक्षण ही कार्य करता है, क्योंकि उस में एक आत्मा प्रवेश किए हुए है, जो निर्जीव शरीर में नहीं है। सो जैसे अग्नि से संयुक्त हो कर शरीर एक विलक्षण रूप में आजाता है, ठीक इसी प्रकार यह जड़ जगत् एक विलक्षण रूप में हुआ अपने अन्दर परमात्मा के संयोग को प्रकाशित करता है। दृष्टान्त में जैसे अग्नि का लोहे के साथ मिल कर प्रकाशित होना अग्नि का शबल रूप* है, और जीवात्मा का शरीर के साथ मिल कर प्रकाशित होना जीवात्मा का शबल-रूप है, इसी प्रकार ब्रह्म का इस जगत् के साथ मिल कर प्रकाशित होना ब्रह्म का शबलरूप है। इस रूप में ब्रह्म को अपरब्रह्म वा शबलब्रह्म कहते हैं।

---

* शबल चितकबरा अर्थात् दूसरी वस्तु के साथ मिला हुआ। लोहे के साथ मिलकर प्रतीत होता हुआ अग्नि का रूप उसका शबल रूप है, और ज्वाला में निखिर कर प्रतीत होता हुआ स्वरूप उसका शुद्धरूप है।

( ३२ ) शबलब्रह्म के दो भेद व्यष्टि और समष्टि

यह अग्नि वायु सूर्य आदि अलग २ भी अपने २ स्वरूप से उसकी महिमा को दिखला रहे हैं, और सारे के सारे मिल कर भी। इस लिये शबलरूप में उसका वर्णन दो प्रकार से है, व्यष्टिरूप से और समष्टिरूप से।

अग्नि में उस का प्रकाश है, और सूर्य में भी। हमारी

(३३) शबल व्यष्टिरूप में ब्रह्म का वर्णन

दृष्टि में प्रेम चाहिये, प्रियतम हमारा सारे विद्यमान है। जहां चाहो देख लो, चाहे केवल अग्नि में, अथवा केवल सूर्य में, और चाहे किसी और ही दिव्य पदार्थ में। यह इस प्रकार भिन्न २ दिव्यशक्तियों में उसकी भिन्न २ महिमा का दर्शन और वर्णन व्यष्टिरूप में उस की महिमा का दर्शन और वर्णन है। इस रूप में भिन्न २ महिमा को लेकर उसके नाम भी भिन्न २ हो जाते हैं। जैसा कि जीवात्मा की जो महिमा नेत्र से प्रकाशित होतो है, उस के सहारे उसे द्रष्टा और जो श्रोत्र से प्रकाशित होता है, उस के सहारे उसे श्रोता कहते हैं। इसी प्रकार परमात्मा की जो महिमा उदय होते हुए सूर्य से प्रकाशित होती है, उस को लेकर उसे सविता, और जो बिजली से प्रकाशित होती है उस को लेकर उसे इन्द्र कहते हैं। यही इन्द्र आदि देव हैं, जो शबलब्रह्म के व्यष्टिरूप हैं। अर्थात् एक ही परमात्मा देव अलग२ दिव्य शक्तियों से प्रकाशता हुआ अलग २ नाम धारण करता है।

उस सर्वनियन्ता की महिमा को सारे विश्व में एक

( ३४ ) समष्टि रूप में ब्रह्म का वर्णन

साथ देखना समष्टिरूप में उसका दर्शन है, और इसी का वर्णन समष्टि

रूप में उसका वर्णन है।

स्थूलसृष्टि सूक्ष्मसृष्टि और इन दोनों के कारण माया को ले कर समष्टिरूप में उस के तीन रूप हैं, विराट्, ब्रह्मा और ईश्वर।

(३५) समष्टिरूप में तीन स्वरूप

इस सारे स्थूल जगत् में एक साथ उसकी महिमा का वर्णन विराट् का वर्णन है, इस रूप में उसे पुरुषरूप से वर्णन किया है। जैसे द्यौ उसका सिर है, सूर्य और चन्द्र नेत्र हैं, दिशाएं श्रोत्र हैं, खुले वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, और पृथिवी पाओं है, और यह निःसन्देह सर्वभूतों का अन्तरात्मा है! (मुण्ड २।१।४) ऋग्वेद १०।९० । का सूक्त सारा पुरुष के वर्णन में है।

(३६) विराट् का वर्णन

कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण, ये हमारे इस स्थूल शरीर में काम करने जानने और जीवन की शक्तियां हैं। इन्हीं शक्तियों के द्वारा यह स्थूल शरीर जीवित जाग्रत रहता है। ये शक्तियां इस सारे ही स्थूल जगत् के अन्दर सूक्ष्मरूप से फैली हुई हैं, और इसको जीवित जाग्रत रखती हैं; मानो ये इस सारे विश्व का जीवन हैं। ये सूक्ष्म शक्तियां भी उसी परमात्मा की महिमा को प्रकाशित करती है, जिसकी महिमा को स्थूल जगत् प्रकाशित करता है। और जैसे स्थूल जगत् के साथ भासते हुए परमात्मा को विराट् कहा है, इसी प्रकार इस सूक्ष्म जगत् के साथ भासते हुए परमात्मा को ब्रह्मा कहा है। ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ और परमेष्ठी भी कहते हैं। ब्रह्मा का

(३७) ब्रह्मा का वर्णन

वर्णन मुण्डक के आरम्भ में ही है और ऋग्वेद १० । १२१ का सूक्त इसी का वर्णन है ।

(३८) ईश्वर का वर्णन

पर यह सूक्ष्म जगत् भी एक कार्य है, इस का कारण इस से परे इस से भी सूक्ष्म एक और है, जिसको माया वा प्रकृति कहते हैं । यही मूलद्रव्य है, और सब कुछ इस का कार्य है । इस मूलतत्व के अन्दर समाया हुआ इस मूलतत्व का अन्तरात्मा भी वही परमआत्मा है, जो इस से रचित पूर्वोक्त स्थूल और सूक्ष्म जगत् का अन्तरात्मा है । अतएव यह मूलप्रकृति भी अपने अन्दर से उसी की महिमा को प्रकाशित करती है । इस मूल प्रकृति के साथ उस अन्तरात्मा को ईश्वर कहते हैं "मायांतु-प्रकृतिंविद्यान्मायिनंतु महेश्वरम् "= माया को प्रकृति जानो, मायी ( मायाशबल ) को महेश्वर । ( श्वेता० )

किसी शबलरूप के वर्णन में परमात्मा की उतनी महिमा

(३९) शबलरूपों का परस्पर भेद

का वर्णन होता है, जितनी कि उस शबलरूप से प्रकाशित होती है । जैसे सूर्य वा वायु के साथ शबलरूप के वर्णन में उसी महिमा का प्रकाश किया जाता है,जो सूर्य के साथ मिल कर भासती है,वा वायु के साथ मिलकर भासती है । अर्थात् शबलरूप बाह्यद्रव्य के साथ ही वर्णन होता है । जैसे तपे हुए लोहे घी वा पानी से हाथ जले, तो यही कहा जाता है, कि लोहे से, वा घी से, अथवा पानी से हाथ जल गया है । पर वस्तुतः हरएक जानता है, कि हाथ लोहे से नहीं जला किन्तु उस अग्नि से जला है,

जो लोहे में स्थित है । इस लिये यहां, लोहविशिष्ट अग्नि के अभिप्राय में लोहा शब्द बोला गया है । इसी प्रकार घी से हाथ जल गया है, पानी से हाथ जल गया है, यहां घी और पानी शब्द भी हैं । इसी प्रकार सूर्यादि शब्द शबलरूप में सूर्यादि विशिष्ट परमात्मा के बोधक हैं । अतएव शबलरूप परस्पर विभिन्न वर्णन किये जाते हैं, और उन के ऐश्वर्यादि का भी एक दूसरे से विभेद होता है ।

यह सब उस के वर्णन का प्रकारमात्र है, पर जिस का यह वर्णन है, वह इन सारी अवस्थाओं में एक है । वही परब्रह्म है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही विराट् है, और वही इन्द्र आदि देवता है । वह एक ही अपनी अप्रमेय और अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से इस प्रकार वर्णन किया गया है, कि जैसे अनेक हैं । "एक आत्मा बहुधा स्तूयते"=एक आत्मा इस प्रकार स्तुति किया गया है, जैसे कि अनेक हैं ( निरु० ७ ) " तद्यदिदमाहुरमुं यजामुंयजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः"=सो जो यह कहते हैं, कि उस को पूजो उस को पूजो इस प्रकार एक एक देवता को ( पूज्य बतलाते हैं ), वह इसी एक देवता की विविध सृष्टि ( बिखरी हुई महिमा ) है, यह ही निःसन्देह सारे देवता हैं ( बृह० ४ । १ । ६ ) ।

(४०) इस भेद में अभेद ।

जिस की महिमा इस सारे विश्व के अन्दर बिखरी हुई हर एक जगह से प्रकाशित हो रही है, और हर एक दिव्यशक्ति अपनी स्थिति और प्रवृत्ति में जिस की झलक दे रही है, उस की महिमा का वर्णन इसी रीति पर हो सकता है, कि अलग २ हर एक दिव्यशक्ति से उस की महिमा दर्शाई जाए। और समष्टिजगत् से भी उसी की महिमा दर्शाई जाए। क्योंकि वह अकेला जो सारी रचना ( कुदरत ) में एक बसा हुआ है, उस एक को सारी रचना मिल कर ही पूरा वर्णन कर सकती है। पर हां इस रचना में रह कर भी वह इस से न्यारा ही है और इस से परे भी है, इस लिये वह अपने स्वरूपमात्र से भी वर्णन किया जाना चाहिये, यही उस का पूरा वर्णन हो सकता है ॥

(४१) इस प्रकार वर्णन का महत्व

परमात्मा के जानने का क्रम भी यही है, कि पहले हम स्थूल व्यष्टि (सूर्यादि) में उसकी महिमा को अनुभव करते हैं, फिर स्थूलसमष्टि में, फिर शुद्ध हुए चित्त के द्वारा स्थूल के अन्दर प्रवेश करके सूक्ष्म में, तत्पश्चात् उस से भी आगे बढ़ कर मूल प्रकृति में उस की महिमा को देखते हैं *। और तब उस से परे इस सारी महिमा के योनिभूत ( चश्मे ) ब्रह्म तत्त्व को देखते हैं।

(४२) उसके जानने का क्रम

---

* यहां तक उस का शबल स्वरूप है, और यहां तक ही हमारे चित्त की पहुंच है। इस से परे जो ब्रह्मतत्त्व है, उस के दर्शन केवल आत्मतत्व से होते हैं, न कि चित्त से।

ऊपर बतला आए हैं, कि जब बाहर की प्राकृत रचना के साथ परमात्मा का वर्णन किया जाता है, तो वह उस के शबलरूप का वर्णन होता है। पर यह नियम नहीं है, कि प्राकृत रचना के द्वारा सब जगह शबलरूप का ही वर्णन हो, किन्तु जहां उस बाहर के पदार्थ को उपलक्षण मान कर उस के अन्दर स्थित परमात्मा पर दृष्टि ले जाना अभिप्रेत होता है, वहां उस बाहर की दिव्यशक्ति से अलग हुए परमात्मा का वर्णन होता है। शबल के वर्णन में बाहर की शक्ति से विशिष्टरूप का वर्णन होता है, और उपलक्षण मे पृथग्रूप का वर्णन होता है।

(४२) उपलक्षण से ब्रह्म का वर्णन

उपनिषदों में जो ब्रह्म की महिमा वर्णन की है, उस का संक्षेप यह है-ब्रह्म सर्व शक्ति है, और सब को शक्ति देरहा है, वह स्वयं जीवन है और सब को जीवन देरहा है, सर्वान्तर्यामी और सब का नियन्ता है, सर्व व्यापक है और सब को घेरे हुए है, सर्वेश्वर है और सर्वाधिपति है, उस के कोई बराबर नहीं, उससे कोई बढ़ कर नहीं, उसका कोई मालिक नहीं, उस का कोई ईश्वर नहीं। वह सब के ऊपर है, सब का मालिक है, सब का ईश्वर है, उस के अधीन सब कुछ अपनी २ मर्यादा में खड़ा है, उस की आज्ञा को कोई नहीं टालता, वह स्वयं अभय है और सब कुछ उस के भय से चल रहा है, वह चेतन है और सब का जानने वाला है, अनादि अनन्त है, उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है, वह स्वयं पूर्ण है, और उसके

(४३) ब्रह्म की महिमा का वर्णन

कामों में कोई त्रुटि नहीं । सब का पालन पोषण करता है, सब का रक्षक और सहारा है । स्वयं पाप से रहित है, हमें पाप से बचाता है, और धर्म की ओर लाता है । साक्षी है और कर्मों का फल दाता है, दयालु है, और न्यायकारी है । ज्योतियों का ज्योति है और सारे चमक रहा है । सत्य स्वरूप है और सचाई को प्यार करता है । अमृत है और मृत्यु से पार उतारने वाला है । स्वयं पवित्र है और पवित्रता का देने वाला है । हमारा प्रियतम है और हमें प्यार करता है । अभय स्वरूप है और अभय का दाता है । अनन्दमय है और आनन्द का दाता है । वही खोजने योग्य है और सब कुछ उसी की खोज दे रहा है । उस को जान कर मनुष्य कृतकृत्य होता है ।

## जीवात्मा का वर्णन ।

(४५) जीवात्मा का स्वरूप

देह जड़ है, इस में जो चेतनसत्ता है, जो यह जानता है, कि मैं हूं. वह जीवात्मा है । यह अचेतन देह उसी की सत्ता से चेतन प्रतीत होता है, देखने सुनने और सोचने वाला वह है, आंख कान और मन उसके पास देखने सुनने और सोचने के साधन हैं । निदान वह चैतन्य ज्योति, जिस के प्रवेश से यह अचेतन शरीर चेतन सा बन रहा है, और जिस के निकलने से यह फिर वही जड़ का जड़ हो जाता है. वह जीवात्मा है ।

(४६) जीवात्मा का देह से भेद

यह देह जड़ है,और वह इस में चेतन है । देह बदलता है और वह इस में एकरस रहता है, इसी लिये यह अनुभव होता है, कि वही मैं हूं, जिसने बचपन में माता पिता

का अनुभव किया है, और अब बुढ़ापे में प्रपोतों का अनुभव कर रहा हूं। यह स्पष्ट है, कि देह वही नहीं रहा, वह तो बचपन से बुढ़ापे में बदल गया है। अब यह न बदलने वाला "मैं" जो कहता है, कि "वही मैं हूं" यह देह से भिन्न आत्मा है।

जीवात्मा जिस प्रकार बाल्य यौवन और वृद्धावस्था से पृथक् है, इसी प्रकार वह जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है, इस देह में प्राण, मन, और बाह्य इन्द्रिय यह तीन शक्तियां हैं। इन में से प्राण चलता है, मन सोचता है, और बाह्य इन्द्रिय अपना २ काम करते हैं। जाग्रत् में यह तीनों अपने २ काम पर लगे हुए होते हैं। स्वप्न में बाह्य इन्द्रिय सो जाते हैं, और सुषुप्ति में मन भी सो जाता है। जाग्रत् में पुरुष बाहर के दृश्य देखता है; और उन पर सोचता है। स्वप्न में बाहर के इन्द्रिय सो जाते हैं, इस लिये मन भी बाहर की ओर नहीं रहता, किन्तु अन्दर ही स्वप्न देखता है। सुषुप्ति में मन भी सो जाता है, केवल प्राण जागते हैं, अतएव इस अवस्था में न वह बाहर के दृश्य देखता है, न अन्दर स्वप्न देखता है। पर वह अपने आप से बेसुध (बेखबर) नहीं होता, अतएव उठकर कहता है, कि मैं ऐसा बेसुध सोया, मुझे कोई सुध नहीं रही। इस से प्रतीत होता है, कि यह जो वहां से बेसुधि की सुध लाया है, वह वहां सर्वथा बेसुध नहीं था, यदि सर्वथा बेसुध होता, तो जाग्रत् में उस की सुधि कैसे देता, किन्तु उस समय उस को अपने स्वरूप से बाहर की

(४७) जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से भेद

सुधि न थी, यही वहां बेसुध होने का अभिप्राय है । और स्वरूप से बाहर की सुधि इस लिये न थी, कि मन और बाह्य इन्द्रिय उस समय सोए हुए थे। सो यह तीनों अवस्थाएं शरीर की हैं, आत्मा इन में इस प्रकार घूमता है, जैसे नदी में कोई मछली इस किनारे से उस किनारे की ओर जाती है । वह मछली नदी के दोनों किनारों से भिन्न है, और नदी से भी भिन्न है । इसी प्रकार आत्मा शरीर की इन अवस्थाओं से भिन्न है, और शरीर से भी भिन्न है।

## तीनों के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन ।

(४८) प्रकृति और जीवात्मा का सम्बन्ध

प्रकृति भोग्य है, और आत्मा भोक्ता है, यह दृश्य है, और वह इस का द्रष्टा है, यह उस के लिये नानारूप धारती है, और वह इस के नानारूपों को देखता और भोगता है। जगत् की सारी शोभा इन दोनों के मेल से है। शैवाल से से लेकर अनेक प्रकार के तृण, घास, अनेक प्रकार के लता, गुल्म, गुच्छ, ओषधि, वनस्पति; नाना प्रकार के सरीसृप (रींगने वाले) जन्तु; जलचर, स्थलचर और वायुचर पशु पक्षी; और फिर सब से उत्तम अन्ततः मानुष जीवन यह सारा जीवन ही जीवन, इन दोनों के मेल से प्रकट होता है ॥

(४९) परमात्मा और प्रकृति का सम्बन्ध

प्रकृति नियम्य है, और परमात्मा इस के नियन्ता हैं, अर्थात् प्रकृति परमात्मा के नियमों का कभी उल्लङ्घन नहीं करती । परमात्मा जिस तरह चाहते हैं, प्रकृति उसी तरह उन की आज्ञा में परिणत होती है ।

परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध पिता पुत्र का सम्बन्ध है। जिस तरह पिता पुत्र का कल्याण चाहता है उसी तरह परमात्मा हम सब का कल्याण चाहते हैं। और पुत्र की जो भक्ति पिता में होनी उचित है, वह भक्ति हमारी परमात्मा में होनी चाहिये। इस के सिवाय और जितने सम्बन्ध हैं *, वह इसी एक सम्बन्ध के आवश्यक सम्बन्ध हैं॥

(५०) परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध

# पुनर्जन्म का वर्णन।

जैसा कि बाल्य, यौवन और जरा देह के लिये होते हैं, न कि आत्मा के लिये। इसी प्रकार मृत्यु भी देह के लिये होता है, न कि आत्मा के लिये। आत्मा जैसे अजर है, वैसे अमर भी है। वह न शरीर के बुढ़ापे से बूढ़ा होता है, न इस के मरने से मरता है। हां वह इसे छोड़ देता है, और छोड़ कर अन्यत्र चला जाता है।

(५१) आत्मा अमर है।

आत्मा इस शरीर को छोड़ कर फिर नया शरीर धारण करता है, और उसके पीछे फिर नया, फिर नया धारण करता रहता है। जिस प्रकार हम जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर नए बदल लेते हैं, इसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरों को त्याग कर नए बदलता रहता है, और सदा से बदलता चला

(५२) वह इस शरीर को छोड़ कर नया शरीर धारण करता है!

* स्वस्वामिभाव, नियम्य नियामकभाव भाव आदि।

आया है । इसी को पुनर्जन्म वा प्रेत्यभाव * कहते हैं ।

## मरने के पीछे की अवस्थाओं का वर्णन ।

मरने के पीछे क्या होता है ? आत्मा यहीं रहता है, वा अन्यत्र चला जाता है, और जाता है, तो कहां जाता है, इत्यादि प्रश्न ऐसे कुतूहलजनक हैं, कि जिनका उत्तर सुनने की हरएक को उत्कण्ठा होती है । पर इसका उत्तर देना कितना कठिन है, क्योंकि मरने से पहले तो कोई इसे जानता नहीं, और मरने के पीछे आकर कोई बतलाता नहीं । इस जीवन के नाटक का जब अन्तिम परदा गिरता है, तो फिर सब कुछ परदे में ही रहता है । तथापि मनुष्य एक ऐसी शक्ति है, कि वह सारे छिपे हुए भेद जान सकता है, यह भी ईश्वर का पुत्र है, जब अनन्यचित्त होकर किसी काम में लग जाता है, तो फिर इसके ज्ञान और शक्ति की कोई थाह नहीं रहती । अतएव वह ऋषि जो अनन्यचित्त होकर इन भेदों की खोज में लगे थे, उन्होंने सारा भेद पालिया । सच है—

(५३) मरने के पीछे क्या होता है इसकी खोजना ।

जिन खोज्या तिन पाइया गहरे पानी पैठ ।

उनकी यह अपनी निज की खोज उनके प्रसन्न वचनों में साफ झलकती है:—

अणुः पन्था विततः पुराणो मा ९ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव ।

अर्थ—यह सूक्ष्म मार्ग, जो फैला हुआ है, पुराना है, मुझे छुआ है, मैंने ही ढूंढा है ( बृह० ४ । ४ । ८ ) ।

* पुनर्जन्म=फिर जन्म । और प्रेत्यभाव=मर कर होना ।

सो इन अनुभवी ऋषियों के वचनों (उपनिषदों) में इस बात का पूरा वर्णन है, कि मरने के पीछे क्या होता है:—

(५४) मरने के पीछे की चार अवस्थाएं।

उत्तम मनुष्य वही है, जो लगातार आगे बढ़ रहा है, मध्यम वह है, जो अपनी जगह पर सम्भले हुए है, और वह हीन है, जो अपनी जगह से भी फिसल जाता है। इन में से वे हीन पुरुष जिन्हों ने इस दुर्लभ मानुष जन्म को पाकर अपने आप को नहीं सम्भाला है, इस उत्तम जन्म को यूंही पापों में गँवा दिया है, वे मनुष्यजाति से नीचे (=पशुपक्षी कीट पतङ्गादि के जन्म में) गिरा दिये जाते हैं। और वे अपने हीनसंस्कारों को वहीं भुक्त कर फिर आगे बढ़ने के लिये मनुष्य का जन्म पाते हैं। दूसरे वे लोग हैं, जो न धर्म में बहुत ऊंचे चढ़े हैं, और न पाप में बहुत नीचे गिरे हैं, किन्तु मिले जुले व्यवहारों में अपना जीवन बिता गए हैं, वे फिर मनुष्यजन्म को लाभ करते हैं। तीसरे वे लोग हैं, जो इस लोक में नेकी कमा गए हैं, वे अपनी कमाई का फल भोगने के लिये चन्द्रलोक (स्वर्ग) में जाते हैं, और वहां उसका फल भोगकर फिर इस लोक में वापिस आते हैं। चौथे वे लोग हैं, जो उपासना द्वारा शबल ब्रह्म को साक्षात् कर चुके हैं, वे मरने के पीछे ब्रह्मलोक में जाते हैं*।

---

* यहां यह विषय बहुत ही संक्षेप से लिखा है, इस का सविस्तर वर्णन "उपनिषदों की शिक्षा" में और "वेदान्तदर्शन" में कर दिया है और उपनिषदों में भी अपने २ स्थान पर किया गया है।

पांचवीं अवस्था उनकी है, जिन्होंने आत्मा में परमात्मा को चीना है, वे देह को छोड़ते ही ब्रह्मानन्द को प्राप्त होते हैं।

( ५५ ) पांचवीं अवस्था।

## कर्म का वर्णन।

उत्तरोत्तर वृद्धि के लिये कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन साधन हैं। इन में से सबसे पहला साधन कर्म है। क्योंकि दूसरे साधन इसकी अपेक्षा रखते हैं।

( ५६ ) वृद्धि का सब से पहला साधन।

इस लोक में अपनों और बेगानों के साथ जो हमारा बर्ताव है, वह हमारा चरित है, हमारा चरित्र है, हमारा शील है। शील का स्वरूप यह है—"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः"= सब प्राणियों पर मन, वाणी और कर्म से द्रोह रहित होना, अनुग्रह ( मेहरबान होना ) और ज्ञान ( मनुष्यों के भावों और रुचियों का ज्ञान, और उनके क्लेश मिटाने तथा सुख के लाने वाले सच्चे साधनों का ज्ञान ) इसको बुद्धिमान् शील कहते हैं। शील के सिवाय सारे कर्म कर्म कहलाते हैं, जैसे यज्ञ करना, वा तालाब लगवाना इत्यादि। चरित भी एक कर्मविशेष ही है। केवल बर्ताव और दूसरे कर्मों में भेद करने के लिये दोनों अलग २ माने गए हैं। पर साधारण बोलचाल में कोई भेद नहीं किया जाता, चरित को भी कर्म ही कहते हैं।

(५७) कर्म के दो भेद कर्म और चरित।

कर्मों के मुख्य भेद दो हैं—इष्ट और पूर्त। इष्ट वे हैं,

(५८) इष्ट और पूर्त कर्म्म। — जिन की इतिकर्तव्यता (करने की रीति) वेदमन्त्रों से होती है, जैसे

अग्निहोत्र। पूर्त वे दूसरे सर्वोपकारी कर्म हैं, जिन का शासन वेदों में है, पर इतिकर्तव्यता लौकिकी होती है, जैसे बाग और कुएं लगवाना, पाठशालाएं और अनाथालय खोलना इत्यादि।

(५९) नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्म्म। — इष्ट औरपूर्त के तीन २ भेद होते हैं नित्य, नैमित्तिक और काम्य।

नित्यकर्म वह हैं, जिन से धर्म का मार्ग ज्ञात हो, पूज्यों

(६०) नित्य कर्म्म। — की पूजा हो, और वह केवल भक्ति भावना से हो। और जो हमारी सहा-

यता की अपेक्षा रखते हैं, उनको हम से सहायता मिले।

पञ्चयज्ञ नित्यकर्म हैं, इन में से ब्रह्मयज्ञ अर्थात् प्रति-

(६१) पञ्च महायज्ञ। — दिन के स्वाध्याय से धर्म का मार्ग ज्ञात होता है, और परमेश्वर की पूजा

होती है और पितृयज्ञ से देव और पितरों की पूजा होती है।

भूतयज्ञ (वैश्वदेव) और अतिथियज्ञ से यथायोग्य सहायता और पूजा दोनों होती हैं। इन नित्यकर्मों का पालन यथाशक्ति अवश्य होना चाहिये, इन में नागा कभी नहीं आना चाहिये। चाहे एक ही मन्त्र का वा आधे ही मन्त्र का स्वाध्याय करो, पर करो अवश्य, अपना नियम कभी न तोड़ो। और चाहे

अतिथि को भोजन न भी दे सको, तथापि आए को आदर अवश्य दो। उसके आने पर आप खड़े होजाओ, उसको बिठलाकर बैठो, और मुख से मीठा वचन बोलो। विश्वास रक्खो, इस आदर के दान से ही तुम्हारा यज्ञ पूर्ण होजाएगा। दैव तुम्हारा धन छीन कर तुम को निर्धन बना सकता है, पर तुम्हारे हृदय की इस उदारता को नहीं छीन सकता, यदि तुम स्वयं इसको अपने अन्दर रखे रखते हो।

( ६२ ) नैमित्तिक कर्म्म। } नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो किसी निमित्त के होने पर किये जाते हैं, जैसे पुत्र का जन्म होने पर जातकर्म संस्कार किया जाता है।

काम्य कर्म वे हैं, जो किसी कामना से किये जाते हैं,

( ६३ ) काम्यकर्म्म } चाहे वह कामना लोक की हो वा परलोक की। जैसे छान्दोग्य ( ५। २। ४ ) में बतलाया है, कि प्राण का उपासक यदि इस लोक में महत्त्व लाभ करना चाहता है, तो उसे मन्थकर्म करना चाहिये। इसकी विधि भी वहां दी है। और कठ ( १।१२—१९ ) में बतलाया है, कि जो स्वर्गलोक को चाहता है, वह नाचिकेताग्नि ( यज्ञ ) का अनुष्ठान करे। इन में से पारलौकिक कामनाओं का उपाय तो केवल श्रौतकर्म ही हैं, पर लौकिक कामनाओं के लिये यद्यपि श्रौत कर्म भी बतलाए हैं, तथापि लौकिक कामनाएं प्रायः लौकिक उपायों से ही पूरी कीजाती हैं, जिन का वर्णन धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रों में है।

कर्मों के दो भेद और हैं—प्रायश्चित्त और निषिद्ध (वा प्रतिषिद्ध)। विहित कर्म के न करने से वा विधिहीन करने से अथवा वर्जितकर्म के करने से मनुष्य पतित होता है। पतित अर्थात् गिरा हुआ—अर्थात् खोटे भावों के साथ युद्ध करता हुआ वह घायल होकर गिर पड़ा है। उसके उस घाव को भर कर फिर वीरता से लड़ने के लिये जो (प्रतिकार-इलाज) किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। और निषिद्ध वे है, जिनके करने का शास्त्र में निषेध है।

(६४) प्रायश्चित्त और निषिद्ध कर्म्म।

नित्यकर्म जब श्रद्धा भक्ति के साथ यथाविधि पूरे किये जाते हैं, तो वह अन्तःकरण को शुद्ध बना कर आत्मा और परमात्मा के दर्शन के योग्य बनाते हैं। नैमित्तिककर्म मनुष्य को उन कर्तव्यों की याद दिलाते हैं, जो उस को अपनी निज की उन्नति के लिये वा अपनों की उन्नति के लिये समय २ पर अनुष्ठेय होते हैं, इन कर्तव्य कर्मों के पालन से ही मनुष्यजाति को उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। काम्यकर्म मनुष्य को अपनी कामनाओं के पूरा करने का नेक रस्ता बतलाते हैं, जिस से कि उस की कामनाएं भी पूर्ण हों, और अन्तःकरण भी शुभ वासना वाला हो। क्योंकि कामनाओं के बस में पड़ कर ही मनुष्य पापी बनता है, सो यदि शास्त्र की यर्यादा में रह कर ही कामनाओं को पूरा करने की इच्छा

(६५) नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त और निषिद्ध कर्मों का उद्देश्य।

दृढ़ हो जाए, तो कामना की पूर्ति और आत्मा का कल्याण दोनों साथी हो जाते हैं, अन्यथा विरोधी । प्रायश्चित्तकर्मों का उद्देश्य यह है, कि यदि कथञ्चित् कोई अनुचित कर्म हो भी जाए, तो उस के मलिन संस्कार जो अन्तःकरण पर पड़े हैं, वह धो दिये जाएं जिस से उस कर्म से घृणा हो कर फिर कभी उधर रुचि न हो। निषिद्धकर्मों के बतलाने का उद्देश्य यह होता है, कि मनुष्य को उन खतरों से सावधान कर दिया जाय, जो उस को पतित करने वाले हैं । ताकि वह पहले ही सावधान रहे, और उन में कभी न फंसे ।

इस प्रकार जब मनुष्य पतित करने वाले खतरों से सावधान रहता है, और जो कभी कोई त्रुटि हो भी जाए, तो उस को प्रायश्चित्त के द्वारा पूरा कर लेता है । अपनी कामनाओं को शास्त्र की मर्यादा में रह कर ही पूरा करता है, और अपनी तथा अपनों की वृद्धि के उपायों में सदा तत्पर रहता है, तब वह यहां और वहां सदा आनन्द भोगता है ।

## उपासना का वर्णन ।

जो लक्ष्य अपने सामने है, उस में मग्न हो जाना अर्थात् मन की सारी वृत्तियों को और सब ओर से हटा कर एक उसी लक्ष्य पर ठहरा देना उपासना है ।

(६६) उपासना का लक्षण ।

इस उपासना से वह जो कुछ पाना चाहता है, वही

(६७) उपासना लक्ष्य

उस का लक्ष्य है। मनुष्य के ध्यान में इतनी बड़ी शक्ति है, कि उस से वह अपने भीतर और बाहर बड़े २ पलटे दे सकता है। मेंह का बरसाना ( छा० २।३।२ ) और रोग का हटाना तथा आयु का बढ़ाना ( छा० ३।१६ ) इस की शक्ति में हो जाता है। यही सिद्धियां कहलाती हैं, जो उपासक के इशारे पर नाचती हैं। पर उपासना का परमलक्ष्य यह सिद्धियां नहीं, परमलक्ष्य एकमात्र **परमात्मा** हैं, जिन को पाकर मनुष्य सारी फांसों से छूट जाता है।

(६८) उपासना में द्वार का भेद और उपास्य की एकता

उपासना का द्वार प्रायः **प्रणव ( ओ३म् )** को माना है। उपासक को चाहिये, कि ओ३म् का उच्चारण करे और परमात्मा पर ध्यान जमाए। इस उपासना में द्वार (ओ३म्) शब्द है, लक्ष्य परमात्मा है। दूसरे प्रकार के द्वार वे हैं, जिन से परमात्मा की महिमा झलकती है, उदाहरण के तौर पर ऐसा द्वार हमारे शरीर की रचना में नेत्र है, और बाहर की रचना में सूर्य है। इनके द्वारा भासती हुई महिमा का अवलम्बन करके जो उपासना की जाती है, वह क्रमशः **अध्यात्म** और **अधिदैवत** उपासना कहलाती है ( देखो० छा० १।६।७ और १।७।५ )। यह सब तो उस की उपासना के द्वार हैं, पर इन के द्वारा जिस की उपासना की जाती है, वह सभी जगह एक **परमात्मा** हैं।

मनुष्य ज्यों २ उपासना में आगे बढ़ता है, त्यों २ उस

(६९) उपासना का अन्तिम फल आत्मा की प्राप्ति

के अन्दर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है, यहां तक कि उस प्रकाश से आत्मा अन्त में अपने स्वरूप को इस जड़ देह से अलग करके देख लेता है।

# ज्ञान का वर्णन।

(७०) ज्ञान का लक्षण

अपने आप को और अपने स्वामी को पहचानना अर्थात् आत्मा और परमात्मा का साक्षात् दर्शन, इस का नाम ज्ञान है।

(७१) ज्ञान के साधन

प्रतिषिद्ध कर्मों का परित्याग और कर्तव्य कर्मों का पालन, और उपासनाद्वारा चित्त की एकाग्रता, ये ज्ञान के साधन हैं। प्रतिषिद्ध कर्मों के परित्याग से चित्त मैला नहीं होता, और कर्तव्य कर्मों के पालन से शुद्ध और उदार बनता है, तब उपासना द्वारा परमात्मा के दर्शन पाता है।

(७२) ज्ञान के उदय का क्रम।

मनुष्य साधारण अवस्था में अपने आप को, और अपने परमात्मा को, दोनों को भूला हुआ है। अपने आप को केवल इतना जानता है, कि " मैं हूं "। पर " मैं यह हूं " इस तरह निखेर कर अपने आप को नहीं पहचानता है। इसी प्रकार परमात्मा को भी इतना ही जानता है, कि " वह है "। पर "वह यह है" ऐसा निखेर कर उसे नहीं पहचानता है। अब जब कि उसका चित्त उदार और शुद्ध बन जाता है, तब वह पहले पहल एकाग्रता

( सम्प्रज्ञातसमाधि ) द्वारा परमात्मा के शबलरूप के साक्षात् दर्शन करता है । इस दर्शन में उसे परमात्मा का स्वरूप इस तरह भान होता है, जैसे लाल तपे हुए लोहे में अग्नि का रूप। अब इस दर्शन के प्रसाद से उसका आत्मा जाज्वल्यमान हो जाता है, वह जाग उठता है और अपने आप को सम्भाल लेता है । तब वह " मैं यह हूं " इस प्रकार अपने आप को शरीर से अलग निखेर कर पहचान लेता है, अर्थात् वह आत्म-तत्त्व जो पहले देह में मिला हुआ देह के साथ एक हुआ प्रतीत होरहा था, अब वह इस तरह निखिर कर प्रतीत होता है, जैसे दीपक के ऊपर उसकी ज्वाला । अब इस प्रकार आत्मा जब जग जाता है, तो इस जगे हुए आत्मा से अपने ही अन्दर पर-मात्मा की शुद्ध ज्योति के दर्शन करता है—अर्थात् उस निखरे हुए स्वरूप के, जो उसका केवल स्वरूप है । अर्थात् शबल और शुद्ध के दर्शन में यह भेद है, कि शुद्ध चित्त से तो शबल के दर्शन करता है, इसके आगे चित्त की पहुंच नहीं । चित्त यहां ठहर जाता है, और आत्मा चित्त के दृश्यों से हट कर अपने स्वरूप में आजाता है । स्वरूप में अवस्थित हुआ वह अपने आप को देखता है, और अपने आप को देखता हुआ अपने में अपने अन्तर्यामी को देख लेता है ।

## बन्ध का वर्णन ।

( ७३ ) बन्ध का स्वरूप । — बांधना, जकड़ना ( फांसों से ), कैद करना, पकड़ना, बस में करना, इसको बन्ध कहते हैं । अज्ञानावस्था में आत्मा देह की कैद में है, इन्द्रियों के बस में है, माया ( प्रकृति ) की फांसों से जकड़ा

हुआ है। इस अवस्था में वह बहुत कुछ अस्वतन्त्र है। एक ओर बाहर की अवस्थाएं जिधर खींचती हैं, बेबस लेजाती हैं, दूसरी ओर इन्द्रिय जो चाहते हैं, नाच नचाते हैं, तीसरी ओर देह ने उसे ऐसे पिंजरे में डाल रक्खा है, कि वह न खुला उड़ सकता है, न अपना वेग और पराक्रम दिखला सकता है।

बन्ध का कारण **अविद्या** है—यह कि अपने आप को भूल कर देह को अपना आप समझ रहा है, अतएव देह के दुःख से दुःखी और देह के सुख से सुखी होता है, और देह के जीवन से अपना जीवन और देह के मृत्यु से अपना मृत्यु समझता है।

( ७४ ) बन्ध का कारण।

जब यह पुण्यवश से किसी पहुंचे हुए गुरु की शरण लेता है, तो वह इसे मोक्ष का मार्ग दिखला कर सारी फांसों से छुड़ा देता है, तब इसका बन्ध से **मोक्ष** ( छुटकारा ) होता है।

( ७५ ) बन्ध से मोक्ष।

## मोक्ष का वर्णन।

बन्ध से छूटने का नाम **मोक्ष** है। आत्मा जितना २ प्रकृति की फांसों से छूटता जाता है, उतना २ मुक्त ( आज़ाद ) होता जाता है, पर वास्तव में मुक्त तभी होता है, जब एक भी फांस शेष नहीं रह जाती। सारी फांसें कट जाती हैं, और प्रकृति का कोई भी बल उस पर नहीं रह जाता। इसी का नाम **मोक्ष** वा **मुक्ति** ( आज़ादी ) है।

( ७६ ) मोक्ष का स्वरूप।

मोक्ष का साक्षात् साधन परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन है। जब तक आत्मा उस स्वरूप के साक्षात् दर्शन नहीं पाता, तब तक प्रकृति का प्रभाव उस पर पड़ा रहता है, पर जब दर्शन कर लेता है, तो फिर वह प्रकृति की सारी फांसों से छूट जाता है। अब उसके पास न शोक और मोह की पहुंच रहती है, न किसी से भय रहता है। वह कृतकृत्य होजाता है, और परमानन्द का उपभोग करता है।

(७७) मोक्ष का साधन।

वह जो बन्धनों को काट चुका है, जब तक जीता है, तब तक उसकी जीवन्मुक्ति है, फिर जब वह देह को छोड़ता है, तब उसकी विदेह मुक्ति कहलाती है।

(७८) जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति।

वह उपासक जो शरीर छूटने से पहले शबलब्रह्म के साक्षात्कार तक ही पहुंचा है. शुद्ध का साक्षात् करना अभी शेष रह गया है, तो वह इस शरीर को छोड़ कर पहले आर्चि* आदि मार्ग से ब्रह्मलोक को जाता है, और वहां पहुंच कर फिर शुद्ध स्वरूप के दर्शन करता है, तब उसका सब लोकों में कामचार (स्वतन्त्र विचरना) होता है, यह क्रममुक्ति है। पर जो यहीं शुद्ध को भी साक्षात् कर चुका है, वह शरीर के छूटते ही सर्वथा

(७९) क्रममुक्ति और परममुक्ति।

* अर्चि आदि मार्ग का वर्णन—देखो छान्दोग्य ५।१०।१-२ और बृहदारण्यक ६।२।१५।

स्वतन्त्र होजाता है, यही परम मुक्ति * है।

इस जगत् में जो कुछ नया होता है, उसका एक चक्र होता है, वह उस चक्र में से होकर फिर २ नया होता रहता है, जैसे वृष्टि का जल बार २ भूमि पर गिरता है, और बार २ भाप बन कर फिर आकाश पर चढ़ता है। नई होने वाली कोई बात हो ही नहीं सकती, जो बीते हुए अनादिकाल में पहले कभी हुई न हो और आगामी अनन्तकाल में फिर कभी न हो। जिन कारणों के मिलने से वह अब हुई है, वे कारण इस अनादि प्रवाह में कई बार मिले और बिछड़े। हर एक मेल में वह वस्तु प्रकट हुई और हर एक बिछोड़े में वह लीन हुई, और ऐसे ही आगे प्रकट और लीन होती रहेगी। सो नई वस्तु चाहे कितनी ही दूर ( इतनी दूर कि उसके चिन्तन में भी पुरुष हैरान हो ) की अवधि वाली क्यों न हो, पर वह निरवधि नहीं होसकती। इसी प्रकार यह मुक्ति भी हमें नई मिलती है, इस लिये निरवधि नहीं, सावधि है †

(८०) मुक्ति निरवधि नहीं, सावधि है।

---

* जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, क्रममुक्ति, परममुक्ति इत्यादि कई एक शब्द जो यहां प्रयोग किये हैं, उपनिषदों में प्रयुक्त नहीं है। पर इनका विषय उपनिषदों में है, हां यह परिभाषाएं उनके लिये पीछे बनी हैं।

† मुक्ति को निरवधि मानने में यह दूसरा दोष है, कि जब मुक्त हो २ कर जाते रहते हैं, और वापिस नहीं आते, तो एक दिन सारे संसार का उच्छेद होजाएगा।

## उपनिषदों के सिद्धान्त समझने में मतभेद।

इन सूक्ष्म और अलौकिक विषयों में स्वतन्त्रतया विचार करने से मतभेद होना तो सहज ही है, जैसा कि भिन्न २ मतों में पाया जाता है, पर उपनिषदों के सिद्धान्त को ही अपना सिद्धान्त मानने

( ८१ ) मत भेद का विषय ।

---

प्रश्न—हो उच्छेद, इस में तुम्हारो क्या हानि है, यदि सारे के सारे एक २ करके मुक्त हो जाएं (उत्तर) ऐसा सम्भव नहीं है, वह जगत् जो अनादिकाल से, उस अनादि से-जिस की पूर्व की ओर कोई थाह नहीं—आज तक चला आया है, और अभी तक भरपूर है, तो आगे भी ऐसा ही बना रहेगा—किञ्च यदि एक २ करके सब के मुक्त होने का कोई समय आ सकता है, तो वह इससे बहुत पहले ही हो चुका होना चाहिये था। चाहे कितने २ युगों में एक २ जीव की भी मुक्ति मानो, तौ भी जितने जीव हैं, सब के सब मुक्त हो चुके होने चाहिये, क्योंकि पूर्व की ओर काल की कोई थाह नहीं है। एक २ जीव को मुक्त होने के लिए जितना काल दो, और जितने जीव कहो, उतने गुणा उतना काल भी एक बार नहीं, कई वार बीत चुका हुआ है। काल की कहीं हद्द तो ठहरा नहीं सकते, जहां हद्द कल्पना करोगे, उस से पहले क्या काल नहीं था? इस लिये उतने गुणा काल भी कई वार बीत ही चुका है (प्रश्न) जीव ही अनन्त हैं, इस लिये यह दोष नहीं होगा (उत्तर) संख्या कभी अनन्त हो ही नहीं सकतो। यह हो सकता है, कि पृथिवी के परमाणुओं को हम गिन न सकें, और हमारी

वालों में भी इन विषयों में कहीं २ वा किन्हीं अंशों में मन्तव्य का भेद हुआ है, जो उन्हों ने अपनी २ व्याख्याओं में स्पष्ट किया है। वह भेद प्रायः इस विषय में है, कि जीव और ब्रह्म में भेद है वा अभेद, और जगत् मिथ्या है वा सत्य।

(८२) मतभेद का कारण।

उपनिषदों में बाह्याध्यात्म जगत्, जीव और ईश्वर का अलग २ वर्णन पाया जाता है, और जगत् के उपादानभूत माया ( प्रकृति ) का भी। इस से जीव ईश्वर और जगत् का भेद, और तीनों का सत्य होना प्रतीत होता है। दूसरे प्रकार के वचन वे हैं, जिनमें जीव ईश्वर का अभेद पाया जाता है, जैसे "तत्त्वमसि"= "वह तू है" ( छा० ६।८।६ )। इत्यादि से जीव ईश्वर का

---

गिनती के नाम भी उतनी दूर तक न जा सकें, पर फिर भी वह गिनती से बाहर नहीं हो सकते। जब परमात्मा एक २ परमाणु में अलग २ बसे हुए हैं, और उन को अलग २ चलाते हैं, तो अलग २ जानते भी हैं, हर एक का अलग २ ज्ञात होना, यही उन की संख्या है। जितने जीव हैं, परमात्मा उन सब के कर्मों की व्यवस्था करते हैं, यह व्यवस्था वह कैसे कर सकते हैं, यदि उन के एक २ कर्म्म के वह जाननेहार न हों। सो जब एक २ जीव के अनेक २ कर्मों को वे अलग २ जानते हैं, तो एक २ जीव को अलग २ जानते हैं, इस में संदेह ही क्या है। इस लिये जीव असंख्यात नहीं हो सकते।

मुक्ति के सावधि होने के विषय में उपनिषद् वाक्यों का विचार अपनी २ जगह २ पर किया जाएगा।

अभेद प्रतीत होता है । तथा ऐसे वचन भी हैं, जिन में सृष्टि से पहले एक ब्रह्म के सिवाय किसी दूसरे का न होना पाया जाता है, जैसे "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"= हे सोम्य ! सत् ही यह पहले था एक ही बिना दूसरे के (छा० ६।२।१)। और ऐसे वचन भी हैं, जिन में सब कुछ ब्रह्म ही कहा है, जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म"=यह सब ब्रह्म है (छा० ३।१४।१) इत्यादि। अब इन उभयविध वाक्यों को देख कर यह संशय होता है, कि उपनिषदों का तात्पर्य अभेद में है, वा भेद में । और अभेद में है, तो भेद वाक्य किस अभिप्राय से कहे हैं, और यदि भेद में है, तब अभेद वाक्य किस अभिप्राय से कहे हैं, इस व्यवस्था के लगाने में मतभेद हुआ है ।

(८४) भिन्न २ मतों के अपने २ नाम ।

इन भिन्न २ मतों को एक दूसरे से निखेरने के लिये ये नाम दिये गए हैं—द्वैतसिद्धान्त, अद्वैतसिद्धान्त, विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त, शुद्धाद्वैतसिद्धान्त, और द्वैताद्वैतसिद्धान्त ।

(८३) हमारा सिद्धान्त

हमारा सिद्धान्त वही है, जो हम ने वर्णन कर दिया है, और यह द्वैतसिद्धान्त * है । शेष सिद्धान्त हम संक्षेप से नीचे दर्शाते हैं:—

---

* माध्व और निम्बार्क सम्प्रदाय का सिद्धान्त भी द्वैतसिद्धान्त कहलाता है ।

# श्रीशङ्कराचार्य का सिद्धान्त-अद्वैतसिद्धान्त ।

स्वामी शङ्कराचार्य के अनुसार उपनिषदों की शिक्षा संक्षेप से यह है—जो कुछ यह नानारूप प्रतीत हो रहा है, यह वस्तुतः एक है। वास्तव में एक ही परमार्थ सत्ता (असली हस्ती) है, जिस को ब्रह्म वा परमात्मा कहते हैं। वह शुद्ध चैतन्य वा शुद्ध ज्ञान है। अर्थात् ब्रह्म जानने वाला नहीं किन्तु ज्ञानस्वरूप है। और वह निर्विशेष है अर्थात् जो कुछ है, वह आप ही है, उस में कोई गुण वा धर्म नहीं, इस लिये वह निर्गुण निर्धर्म वा निर्विशेष है।

(८५) ब्रह्म ही एक परमार्थ सत् है और वह निर्गुण है।

पर, यदि वह केवल सन्मात्र है, उस में कोई धर्म भी नहीं, और सिवाय उस के और कुछ है नहीं, तो यह सारा प्रपञ्च कहां से आ गया, जिस को हम अपनी चारों ओर देखते हैं, और जिस में हम भी अपनी एक अलग सत्ता रखते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है, कि ब्रह्म के साथ अनादि से एक विशेष शक्ति है, जिस को माया वा अविद्या कहते हैं। यह सारा प्रपञ्च इसी से दिखलाया जाता है। इस शक्ति को न सत् कह सकते हैं, न असत्। सत् तो इस लिये नहीं, कि यह ब्रह्म की नाईं वस्तु सत् (असली हस्ती) नहीं, क्योंकि ज्ञान के उदय होने से इस का नाश हो जाता है, और असत् इस लिये नहीं, कि यह किसी न किसी भान्ति इस प्रपञ्च को प्रकट कर देती है,

(८६) यह प्रपञ्च भ्रान्तिमात्र है, और इसका कारण माया है

इस लिये अभावरूप नहीं। वस्तुतः यह इस भ्रान्ति का अनिर्वचनीय कारण है, जिस भ्रान्ति से हम अपने चारों ओर जड़ चेतन की विविध सृष्टि देख रहे हैं। ब्रह्म इस शक्ति के द्वारा इस प्रकार जड़ चेतन की अनेकविध सृष्टि को दिखलाता है, जैसे कोई मायावी (ऐन्द्रजालिक) अपनी मायाशक्ति से अनेक प्रकार के जड़ चेतनों को प्रकट करके दिखला देता है, जो वस्तुतः भ्रान्तिमात्र हुआ करते हैं।

(८७) माया शबल ब्रह्म जगत् का उपादान है।

यह प्रपञ्च माया से प्रकट हुआ है,इसलिये माया इसका उपादान है, न कि ब्रह्म। पर माया कोई स्वतन्त्र सत्पदार्थ नहीं, ब्रह्म की ही अनिर्वचनीय शक्ति है, इस लिये शक्ति रूप से माया का जहां तक ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है, वहां तक ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कह सकते हैं। अर्थात् ब्रह्म स्वरूप से निमित्त है और माया स्वरूप से उपादान। पर माया स्वतन्त्र नहीं, ब्रह्म की ही शक्ति है। इस लिये मायाविशिष्ट ब्रह्म निमित्त और उपादान (अभिन्न निमित्तोपादान) है। माया के सम्बन्ध से ब्रह्म को प्रायः ईश्वर कहते हैं।

(८८) जीव का स्वरूप

ईश्वर की इच्छा से माया में परिणाम होता है, और उस से यह सारे रूप-जो हमारे चारों ओर हैं, और अपने अलग २ नाम रूप मे निखेरे जाते हैं-प्रकट होते हैं। भूत भौतिक, शरीर और इन्द्रिय सब उसी का परिणाम हैं। सो यह शरीर जो एक

दूसरे से भिन्न २ हैं, यह माया का रूप हैं, और इन में जो चेतन है, वह ब्रह्म है। इन भिन्न २ सारे शरीरों में ब्रह्म एक अभिन्न है, पर वह मायाकृत ज्ञान और कर्म के भेद से प्रतिव्यक्ति भिन्न २ प्रतीत होता है, यही जीव हैं–अर्थात् जीव का परमार्थ स्वरूप ब्रह्म है, और वह एक अद्वितीय है, तथापि प्रतिशरीर ज्ञान और कर्म की भिन्न २ शक्तियों से एक जीव दूसरे से पृथक् किया जाता है।

(८९) उसकी भ्रान्ति और भ्रान्ति का फल।

यह शक्तियां माया का कार्य हैं, और इसलिये मिथ्या हैं। यह जगत् इन्हीं भिन्न जीवों से और उन की उपयोगी वस्तुओं से भरा है, पर न यह जीव, न उन की उपयोगी वस्तुएं परमार्थ सत् हैं, क्योंकि यह दोनों माया से सम्बन्ध रखते हैं, माया से दिखलाए जाते हैं, इस लिए मिथ्या हैं। सो इस प्रकार सारा ही भेद मिथ्या है, वस्तुतः नहीं है, और प्रतीत होता है। इसी मिथ्या दृष्टि ने जीव को अपना परमार्थ स्वरूप भुलाया हुआ है, अब यह भूला हुआ जीव माया से परे अपने स्वरूप को वा माया के भी वास्तव स्वरूप को नहीं देखता है, इस का अपना परमार्थ स्वरूप माया के परदे में ढपा हुआ है, और यह माया से इधर देखता हुआ अपने आप को ब्रह्म समझने की जगह उन उपाधियों (शरीर इन्द्रियों) को अपना आप समझ रहा है, जो माया का कार्य हैं। सो यह शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ही अपना असली स्वरूप जान कर ही इन के धर्मों को अपने धर्म मान लेता है–मोटा, दुबला शरीर होता है न कि आत्मा, पर यह

कहता है " मैं मोटा हूं, मैं दुबला हूं " क्योंकि यह शरीर को अपना आप समझ रहा है। इसी प्रकार अन्धे और बहरे इन्द्रिय होते हैं, यह उन को अपना आप मान कर कहता है-" मैं अन्धा हूं, मैं बहरा हूं " । शोक और चिन्ता अन्तःकरण के धर्म हैं, यह अन्तःकरण को अपना आप मान कर कहता है— "मैं शोक में हूं, मैं चिन्ता में हूं" इसी का नाम अध्यास है। सो यह आत्मा जो कि परमार्थतः शुद्ध स्वरूप है और अनन्त है, इस अध्यास के कारण वह एक सीमा में आ जाता है, अल्पज्ञ और अल्पशक्ति हो जाता है, और कर्ता और भोक्ता बन जाता है। अपने कर्मों द्वारा पुण्य और पाप का सञ्चय करता है, और ईश्वर की मर्यादा में उन के शुभ अशुभ फल भोगता है। जब तक यह स्थिर रहता है, यह भी बार २ जन्म ग्रहण करता है, कर्म करता है और फल भोगता है। कल्प के अन्त में ईश्वर इस प्रपञ्च का संहार कर लेते हैं-अर्थात् यह सारा माया का कार्य अव्यक्त माया के रूप में वापिस आ जाता है, तब यह सारे जीव करने भोगने से अलग हो जाते हैं, मानो उतने काल के लिये गहरी नींद सो जाते हैं । पर उन के कर्मों के संस्कार अब भी नष्ट नहीं होते, इस लिये जब ईश्वर नए सिरे से फिर सृष्टि रचता है, तो वह भी नए शरीरों को फिर धारण करते हैं, और इसी तरह अगले २ कल्पों में फिर २ शरीरों को धारण करते चले जाएंगे, जैसा कि वह अनादिकाल से पहले कल्पों में करते चले आते हैं, इसी का नाम संसार है।

यह संसार तब तक बना रहता है, जब तक अज्ञान है,

(९०) भ्रान्ति का अन्त और जीव का मोक्ष — जब ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब यह संसार निवृत्त हो जाता है। पर यह उस एक ज्ञानी के लिये निवृत्त हुआ भी दूसरों के लिये बना रहता है, जो अभी अज्ञान की अवस्था में हैं। वह मार्ग-जिस से ज्ञान का उदय होता है-वेद * में बतलाया गया है। वेद में दो मार्ग बतलाए हैं, एक **कर्म** का और दूसरा **ज्ञान** का। इन में से कर्म, चाहे कितना उच्च से उच्च भी हो, पर वह मनुष्य को संसार से परे नहीं ले जाता, उस का उच्च से उच्च फल भी संसार के ही अन्तर्गत होता है। दूसरा मार्ग **ज्ञानकाण्ड** का है, उस के दो भेद हैं, एक वह मार्ग जिन में ब्रह्म का ज्ञान वहां तक दिया है, जहां तक उस का सम्बन्ध जगत् से है। इन भागों में ब्रह्म के भिन्न २ गुण वर्णन किये हैं, अर्थात् इन में सगुणब्रह्म ( ईश्वर वा हिरण्यगर्भ ) का उपदेश है, और यह उपासना के लिये हैं, इसी को **उपासनाकाण्ड** कहते हैं। दूसरे वह भाग हैं, जिन में ब्रह्म का शुद्धस्वरूप निर्गुण ( सारे धर्मों से रहित ) वर्णन किया है, वा जिन में जीवात्मा को ब्रह्मरूप बतलाया है।

इन में से पहले ज्ञान ( सगुणब्रह्म की उपासना ) से जीवात्मा मुक्ति नहीं पाता है, किन्तु वह इस शरीर को छोड़ कर केवल **ब्रह्मलोक** में जाता है, ब्रह्मलोक में यद्यपि इस की

---

* स्वामि शङ्कराचार्य्य ब्राह्मण और उपनिषदों को भी वेद मानते हैं।

शक्ति और ज्ञान बहुत बढ़ जाते हैं, पर जीवभाव निवृत्त नहीं होता, वह एक अलग जीव के तौर पर बना रहता है। अन्ततः वह निर्गुण के ज्ञान को लाभ करता है, और तब मुक्त हो जाता है। दूसरी ओर वह ज्ञानी जो ब्रह्म के उस शुद्ध स्वरूप को जानते हैं-जो सारे गुणों से परे है, और महावाक्यों (तत्त्वमसि आदि) द्वारा जान लेते हैं, कि आत्मा के परमार्थ स्वरूप और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, वह उसी क्षण परममुक्ति लाभ करते हैं-अर्थात् वह माया के प्रभाव से परे हो जाते हैं, और अपने असली स्वरूप को पालेते हैं, जो केवल शुद्धब्रह्म है॥

(९१) अद्वैत सिद्धान्त नाम का हेतु।

इस सिद्धान्त का अपना विशिष्ट नाम अद्वैतसिद्धान्त है, क्योंकि इस में एक अद्वितीय ब्रह्म ही वस्तु सत् माना गया है—अर्थात् इस सिद्धान्त में द्वैत को यहां तक दूर किया है, कि ब्रह्म में कोई गुण भी नहीं माना गया है, क्योंकि इस से एक गुण और दूसरा गुणी दो बन जाते हैं।

## स्वामि शङ्कराचार्य के सिद्धान्त से हमारा मेल और भेद।

(९२) ब्रह्म के विषय में।

"ब्रह्म एक है" इस अंश में हमारा श्री शङ्कराचार्य से मेल है। पर ब्रह्म सजातीय, विजातीय, और स्वगत भेद से शून्य है, इसके एक अंश में भेद और एक में मेल है। इसका अभिप्राय यह है, कि भेद तीन प्रकार के होते हैं—सजातीयभेद, विजातीयभेद, और स्वगतभेद। दृष्टान्त के तौर पर जैसे एक बड़ का वृक्ष दूसरे

वृक्षों से भिन्न है यह उस में सजातीयभेद ( अपने सजातीयों अर्थात् दूसरे वृक्षों से भेद ) है। फिर यह बटवृक्ष अपने विजातीयों अर्थात् मट्टी पत्थर पानी आदि से भी भेद रखता है, यह उस में विजातीयभेद है। तीसरा इस वृक्ष के अपने आप में भी अवयवों का परस्पर भेद है, अर्थात् स्कन्ध, शाखाएं, उपशाखाएं, और पत्ते आदि सब आपस में एक दूसरे से भिन्न हैं, यह उस में स्वगतभेद ( अर्थात् अपने ही अन्दर भेद ) है। तथा बटवृक्ष के जो रूप, रस गन्ध आदि गुण हैं, यह भी एक दूसरे से भिन्न हैं, और वृक्ष जो इन गुणों वाला है, उस से भी भिन्न हैं, अर्थात् गुण गुणी से दूसरी वस्तु हैं। इसी प्रकार वृक्ष हिलता है, यह उस में हिलना ( क्रियाविशेष ) उसके स्वरूप से अलग वस्तु है। यह गुणों का और क्रिया का भेद भी वृक्ष में स्वगतभेद ही है । यह तीनों भेद शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्म में नहीं हैं। ब्रह्म में सजातीयभेद नहीं, क्योंकि ब्रह्म के सजातीय जीव हैं, वह उस से अभिन्न हैं। विजातीयभेद भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म से विजातीय जड़ जगत् है, वह है ही नहीं, भ्रान्ति से दीख रहा है, वस्तुतः सब ब्रह्म ही है। स्वगतभेद भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म निरवयव, निर्गुण और निष्क्रिय है, इस लिये न अवयवों से, न गुणों से और न क्रिया से कोई भेद उस में होसकता है।

इस से हमारा भेद यह है, कि हम भी ब्रह्म को निरवयव मानते हैं, इस लिये स्वगतभेद उस में हम भी नहीं मानते। पर सजातीय, विजातीयभेद हम स्वीकार करते हैं। क्योंकि हमारे पक्षानुसार ब्रह्म के सजातीय चेतन ( जीव ) ब्रह्म से भिन्न हैं। ब्रह्मसदृश हैं, पर ब्रह्मरूप नहीं। इस लिये सजातीय

भेद है। और विजातीयभेद इस लिये है, कि विजातीय जड़ जगत् भी ब्रह्म से भिन्न वस्तुसत् है, न कि मिथ्यारूप है।

(९३) जीव के विषय में।

स्वामि शंकराचार्य जीव को अनादि मानते हैं. पर उसे ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते, किन्तु भ्रान्ति से वह अपने आप को भिन्न समझता है। और हमारे पक्षानुसार जीव ब्रह्म सदृश चेतन है, पर वह ब्रह्म से भिन्न है, और मुक्ति में भी भिन्न रहता है।

(९४) माया और जगत् के विषय में।

स्वामि शंकराचार्य के अनुसार माया 'सत् असत् से अनिर्वचनीय एक शक्ति है' और उस का कार्य जगत् मिथ्या है। हमारे पक्षानुसार माया सद्रूप है, और उसका कार्य सत्य है।

(९५) मुक्ति के विषय में।

जीव जब ब्रह्म रूप नहीं, तो वह मुक्ति में भी ब्रह्म रूप नहीं होजाता, किन्तु ब्रह्म के परमसदृश (शोक मोह आदि से रहित, और सत्यसंकल्प) होजाता है, पर अपने अलग स्वरूप को खो नहीं देता। यह मुक्ति के विषय में एक भेद है। दूसरा मुख्य भेद मुक्ति के सावधि और निरवधि होने का है। स्वामि शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति निरवधि है और हमारे पक्षानुसार मुक्ति सावधि है।

(९६) एक ही बड़ा भेद।

यह मुख्य २ भेद हमने दिखला दिये हैं, पर वस्तुतः एकही बड़ा भेद है, जो स्वामि शंकराचार्य से हमें भिन्न करता है। वह भेद मायावाद का है, जिससे वह सब कुछ हमारे तुल्य ही मान कर अन्त में यह कह देते हैं, कि यह सब कुछ व्यवहार काल में सत्य है, पर परमार्थ में अनृत (झूठ) है, क्योंकि यह सारा

माया से धोखा दिया जाता है। इस लिये हमें इस एक बड़े भेद का अवश्य निर्णय कर लेना चाहिये।

(६७) जगत् के सत्यत्व में युक्ति।

जगत् को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, इस लिये यह सत्य है (प्रश्न) प्रत्यक्ष में भी तो धोखा होता है, जैसे सीप को चांदी देखते हैं, वा रस्सी को सांप अथवा आंखों में पित्त रोग से सब वस्तुएं पीली दिखलाई देती हैं (उत्तर) प्रत्यक्ष में जब धोखा होता है, तो किसी दोष से होता है। सीप को चांदी वा रस्सी को सांप दूर से देखते हैं, वहां वस्तु का दूर होना दोष है। और पीला दिखलाई देने में दिखलाने वाली आंखों के अन्दर दोष (रोग) है। निकट पहुंचने से सीप सीप और रस्सी रस्सी होजाती है, और रोग के दूर होने से सारी वस्तुएं अपने २ रंग में दिखलाई देती हैं। इस लिये बिना दोष के प्रत्यक्ष में कोई भ्रान्ति नहीं होती। पर जगत् को हम बिना किसी दोष के ऐसा देखते हैं; इस लिये यह सत्य है।

(६८) जगत् के सत्यत्व में उपनिषत्प्रमाण।

"**यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्या चक्षते**"=जो कुछ यह है, उस को सत्य ऐसा कहते हैं (तै० २।६)। तथा "**प्राणा वै सत्यं, तेषामेष सत्यम्**"=इन्द्रिय निःसंदेह सत्य हैं, यह (आत्मा) उनका सत्य है (बृ० २।१।२०) यहां सत्य के साधन होने से इन्द्रियों को सत्य कहा है, और इन्द्रियों में यह सत्यसाधनता आत्मा के प्रभाव से है, इस लिये उसे सत्य का सत्य कहा है। सो इन्द्रिय जब सत्य का साधन हुए, तो जगत् सत्य है, यह निःसन्देह सिद्ध होता है।

"शाश्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीळः। यच्चिकेत सत्य मित्तन्न मोघं वसु स्पार्हं मुतजेतोत दाता"=

(९९) जगत् के सत्यत्व में मन्त्र प्रमाण।

अपनी शक्ति से सब कुछ करने में शक्त अरुणपक्षी जो महान् शूर है सनातन है निराधार है। वह (यह अब करना है इस प्रकार) जो कुछ जानता है, वह सत्य है, मिथ्या नहीं, वह स्पृहणीय धनका जीतने वाला और दाता है (ऋ० १०। ५५। ६)

(१००) शंकराचार्य की सम्मति।

विज्ञान वादी बौद्ध का यह पक्ष है, कि एक विज्ञान ही सत्य वस्तु है, और कुछ नहीं। उसी विज्ञान के यह सारे आकार दीखते हैं, और वह अन्दर है, बाहर कोई पदार्थ नहीं। जैसे स्वप्न में बिना अर्थ के प्रतीति होती है, वैसे ही जाग्रत् में भी बिना अर्थ के ही विचित्र प्रतीति होती है। इस पक्ष का खण्डन करते हुए स्वामि शंकराचार्य ने "नाभाव उपलब्धेः"=(बाह्यपदार्थों का) अभाव नहीं, क्योंकि उनकी उपलब्धि होती है। (२।२। २८) इस सूत्र में बड़े विस्तार के साथ बाह्य अर्थ के न मानने का खण्डन करके "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्"=में स्वप्नवत् होना भी खण्डन किया है। इस सूत्र पर उनके भाष्य का अर्थ यह है—'बाहर के पदार्थों से इन्कार करने वाले (बौद्ध) ने जो यह कहा है, कि "जैसे स्वप्न में पदार्थों की प्रतीति बिना पदार्थों के होती है, वैसे ही जाग्रत् में जो खम्भे आदि की प्रतीति होती है, वह भी बिना ही बाह्य पदार्थों के हो सकती

है। क्योंकि प्रतीति ( दोनों जगह ) अविशेष* है । इस का उत्तर यह है, कि जाग्रत् की प्रतीति वैसे नहीं मानी जासकती, जैसे स्वप्नादि की प्रतीति होती है । कारण यह है, कि दोनों ( स्वप्न और जाग्रत् की प्रतीतियों ) में बड़ा भेद है। वह भेद यह है, कि स्वप्न के पदार्थों का तो बाध होजाता है, पर जाग्रत् के पदार्थों का कभी बाध नहीं होता। स्वप्न को देख कर जागा हुआ मनुष्य कहता है, कि मिथ्या ही मैंने महाजनों का समागम लाभ किया, वस्तुतः कोई समागम नहीं हुआ, किन्तु मेरा मन नींद के दबाव में था, इस लिये ऐसी भ्रान्ति प्रकट हुई ( यह स्वप्न की प्रतीति का बाध है ) । इसी प्रकार इन्द्र-जाल आदि में भी बाध होता है। पर जाग्रत् के जाने हुए खम्भे आदि का बाध किसी अवस्था† में भी नहीं होता।

दूसरा यह भी, कि स्वप्न का देखना तो ( देखे हुए की ) स्मृति है, और जाग्रत् का देखना अनुभव है । और स्मृति और अनुभव का अन्तर ( फर्क ) प्रत्यक्ष है। जिसको स्मरण करते हैं, वह हमारे पास नहीं होता, जैसे पुत्र से बिछड़ा हुआ पिता कहता है:—अपने प्यारे पुत्र को स्मरण करता हूं, नहीं

---

* अर्थात् जब प्रतीति में कोई विशेष नहीं, जैसे स्वप्न में पदार्थ बाहर प्रतीत होते हैं, वैसे ही जाग्रत् में भी होते हैं, तो स्वप्न की नाईं बिना ही बाह्य पदार्थों के जाग्रत् की प्रतीति मानने में कोई बाधा नहीं होसकती।

† अर्थात् स्वप्न का जैसे जाग्रत अवस्था में बाध होता है वैसे जाग्रत् का किसी अवस्था में भी बाध नहीं होता, फिर जाग्रत के पदार्थों को मिथ्या कैसे माना जाए।

देखता हूं, देखना चाहता हूं। पर जिसका अनुभव कर रहे हैं, वह पास होता है। सो ऐसी दशा में जब तुम दोनों प्रतीतियों का स्पष्ट भेद देखते हो, तो यह नहीं कह सकते हो, कि जाग्रत् की प्रतीति मिथ्या है, क्योंकि यह एक प्रतीति है, जैसे स्वप्न की प्रतीति। पण्डितमानियों को अपने अनुभव से इन्कार नहीं करना चाहिये।

किञ्च—तुम जाग्रत् की प्रतीतियों को तो अपने अनुभव के विरुद्ध सीधे तौर पर जब मिथ्या नहीं कह सकते, तो स्वप्न की प्रतीति के सादृश्य से मिथ्या कहना चाहते हो। पर याद रक्खो, जो जिसका स्वतः धर्म नहीं, वह दूसरे के साधर्म्य से उसका धर्म नहीं बनजाता। अग्नि जिसको हम उष्ण अनुभव करते हैं, उसका (किसी अंश में) पानी के साथ साधर्म्य होने से भी ठंडा नहीं होसकता (यह संमति श्री शंकराचार्य की है, हम पूर्वोक्त युक्ति और इन सम्मतियों से जगत् का सत्य होना स्वीकार करते हैं)।

(१०१) जगत् के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण नहीं।

जगत् मिथ्या है, ऐसा स्पष्ट प्रमाण न मन्त्र में है, न उपनिषदों में है। प्रत्युत इस के विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं। और जिन प्रमाणों के आधार पर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है, उन का तात्पर्य हम अपने २ प्रकरण में दिखलाएंगे।

## श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त-विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त।

बाहर के विषय (पदार्थ), शरीर और इन्द्रिय यह

१२० ) अचित्, चित् और परमात्मा । } अचित् ( जड़ ) हैं । इस अचित् शरीर का आत्मा–जो चित् ( चेतन ) है, वह प्रत्यगात्मा वा जीवात्मा है, जो अपने स्वरूप और स्वभाव से शरीर से अत्यन्त विलक्षण है । और परमात्मा इन दोनों से ही अत्यन्त विलक्षण है, जो इन में व्यापक है, इन का आधार है, नियन्ता है, सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है । और अनन्त कल्याण गुणों से युक्त है । उसी को ब्रह्म, पुरुषोत्तम, नारायण, परमेश्वर कहते हैं ।

अचित् और चित् दोनों परमात्मा का शरीर हैं, जैसाकि

( १०३ ) अचित् चित् परमात्मा का शरीर हैं, और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है । } अन्तर्यामी ब्राह्मण ( बृ० ३ । ७ ) में कहा है—कि, सारा बाह्यजगत्, शरीर और आत्मा यह सब परमात्मा का शरीर हैं, और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है । यह चित् अचित् सदा अपने विशेषरूप में रहते हैं, कभी उस के स्वरूप में लीन नहीं होते ।

कारणावस्था में यह नामरूप का भेद जो अब दीखता

( १०४ ) कारण और कार्य अवस्था । } है नहीं होता, किन्तु सारा जगत् प्रकृतिमय होता है । इसी अवस्था को अव्यक्त कहते हैं । चेतन आत्माओं में ज्ञान की शक्ति होते हुए भी उनके ज्ञान का संकोच होजाता है, अतएव वह किसी भी दूसरे पदार्थ को उस समय नहीं जानते हैं । पर कार्यावस्था में यह दोनों बातें बदल जाती हैं । जगत् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आ जाता है, और अपने २ अलग२ नामरूप को धारण करता है । चेतन आत्मा शरीर को धारण करते हैं, और उनके ज्ञान का विकाश

होता है। यह दोनों चित् अचित् दोनों अवस्थाओं में परमात्मा का शरीर होते हैं, और परमात्मा इनका अन्तरात्मा।

(१०५) मोक्ष का वर्णन। — मोक्ष मे जीवात्मा ब्रह्म (जो अनन्त कल्याण गुणों वाला है, उस) को प्राप्त होता है, और ब्रह्म के सदृश हो जाता है, न कि ब्रह्मरूप। क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने रूप को त्याग कर दूसरे द्रव्य के रूप में नहीं जा सकता है।

(१०६) विशिष्टाद्वैत नाम का हेतु। — चित् अचित् परमात्मा का शरीर हैं, प्रकार हैं, विशेषण हैं परमात्मा इन विशेषणों से विशिष्ट है। सूक्ष्म चित् अचित् रूपी शरीर विशिष्ट परमात्मा कारण है, और स्थूल चित् अचित् शरीर विशिष्ट परमात्मा कार्य है। इस प्रकार चित् अचित् से विशिष्टरूप में वर्णन करने से दूसरी वस्तु नहीं रहती है। उपनिषदों में जहां कहीं अद्वैत वा अभेद का वर्णन है, इसी अभिप्राय से है। इस प्रकार विशिष्ट रूप में अद्वैत मानने से यह **विशिष्टाद्वैत** सिद्धान्त कहलाता है।

## वल्लभाचार्य का सिद्धान्त-शुद्धाद्वैत सिद्धान्त।

(१०७) प्रपञ्च का विवेक। — " तदात्मानं स्वयमकुरुत "=उस ने स्वयं अपने आप को बनाया ( तै० ) इत्यादि प्रमाणों से प्रपञ्च शुद्ध ब्रह्म का कार्य है, और " आत्मैवेदं सर्वम् " आत्मा ही यह सब कुछ है। ' पुरुष-

एवेदंसर्वम् '=पुरुष ही यह सब कुछ है इत्यादि प्रमाणों से वह ब्रह्मरूप है । इस लिये प्रपञ्च न मायिक है, न भगवद्भिन्न है, किन्तु सत्य होने से आविर्भाव तिरोभाव शाली है, न कि उत्पत्ति विनाश वाला । जो कुछ यह है, सब भगवान् के ही रूप हैं ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' । जब सब कुछ ब्रह्मरूप है, तो सब कुछ सर्वमय है, सो तापनीय में स्पष्ट कहा है 'सर्वं सर्वमयम् '=हर एक वस्तु सर्वमय है । इसी लिये ' तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे-अहंमनुरभवं सूर्यश्चेति '=इस बात को देखते हुए वामदेव ने निश्चय किया-मैं मनु हुआ मैं सूर्य ( बृ० ) इत्यादि में कहा हुआ सर्वात्मभाव युक्त हो सकता है । ( प्रश्न ) जब सब कुछ सर्वमय है, तो घड़े से ही वस्त्र का काम निकल जाना चाहिये ( उत्तर ) घड़ा सर्वमय है, पर उस में कई धर्मों का आविर्भाव है, और दूसरों का तिरोभाव है । सो घट में वस्त्र के धर्मों का तिरोभाव है, इस लिये उस से वस्त्र का कार्य नहीं निकलता । जैसे रुई से वस्त्र का कार्य नहीं निकलता, क्योंकि वस्त्र के धर्म अभी उस में तिरोभाव होते हैं । इस प्रकार सब ही सर्वरूप हैं, सब ही सर्वत्र विद्यमान है, इस लिये सब ब्रह्म है, इस प्रकार शुद्ध ब्रह्मवाद है । पदार्थों में जो उत्पत्ति, विनाश, निन्दितत्व, परस्पर भेदादि प्रतीत होते हैं, यह माया ( अविद्या ) से हैं । अर्थात् प्रपञ्च सारा ब्रह्मरूप है, केवल भान में भेद होता है । यह प्रपञ्च अधिकारि भेद से तीन प्रकार का भासता है । जैसे श्वेत वस्त्र शुद्ध आंख से ठीक अपने रंगरूप में भासता है । हरा चश्मा लगाने से हरा भासता

है। पर आकार वैसा ही भासता है। हरे चश्मे वाले सजान तो हरा देखते हुए भी रंग चश्मे का और आकार वस्त्र का समझते हैं, पर अनजान बालक को ऐसा विवेक नहीं होता। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी ने तो माया का चश्मा उतार दिया है, वह इस को ठीक ब्रह्मरूप समझता है, शास्त्र द्वारा निश्चय वाला पुरुष इस को ब्रह्म और माया के धर्मों से युक्त देखता है, पर उस को इन धर्मों में विवेक होता है, और अज्ञानी को यह विवेक भी नहीं होता। इस प्रकार प्रपञ्च में कोई भेद नहीं, भेद केवल उस के भासने में ही है।

(१०८) जीव का वर्णन।

जीव ब्रह्म से अभिन्न, अणु, ब्रह्म का अंश है। उस की तीन अवस्था हैं-शुद्ध, संसारी और मुक्त। जब जीव ब्रह्म से अग्नि से चिंगाड़ी की तरह निकलता है, तो उस सच्चिदानन्द का आनन्द अंश तिरोभूत हो जाता है, यह सच्चित्‌रूप शुद्ध जीव है। शुद्धता इस में यही है, कि अभी इस पर अविद्या नहीं आई। तब भगवान् की इच्छा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के साथ इस को आत्मत्व का अध्यास उत्पन्न होता है, तब यह अपने स्वरूप को भूल जाता है। और फिर यह इष्ट अनिष्ट कर्म करता है, उन के फलों को भोगता है, यह संसारी जीव है। फिर भगवान् की कृपा से सत्संगादि पा कर विद्यालाभ करके परमानन्द स्वरूप मुक्ति का लाभ करता है, यह मुक्त जीव है।

इस सारे जड़ चेतन का मूल सच्चिदानन्द रूप है, वह प्राकृत धर्मों से रहित है, और उस में अप्राकृत धर्म असंख्यात हैं। वही 'बहु स्यां प्रजायेय' इस इच्छा से जड़ चेतन रूप हुआ है॥

(११०) मूल रूप का वर्णन।

शांकर मत में जैसे ब्रह्म के साथ माया मानी है, वैसे इस पक्ष में उस के साथ माया भी नहीं मानी है, यह शुद्ध अद्वैत है, इस लिये इसे शुद्धाद्वैत कहते हैं।

(११०) शुद्धाद्वैत नाम का हेतु।

# नियमानन्दाचार्य का सिद्धान्त-द्वैताद्वैत सिद्धान्त।

शरीर आदि अचेतन हैं, इस से अत्यन्त विलक्षण जीवात्मा चेतन है, और वह अणु है। इन दोनों से अत्यन्त विलक्षण परमात्मा चेतन और सर्वव्यापक है। इस लिये इन तीनों का स्वरूप भेद वास्तविक है। जहां २ भेद का वर्णन है, वह इसी वास्तविक भेद के अभिप्राय से है॥

(१११) जड़ जीव, और परमात्मा का भेद वास्तविक है।

इन तीनों में ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता वाला है, जड़ और जीव

(११२) और अभेद सम्बन्ध के अभिप्राय से है। — परतन्त्रसत्तावाले हैं। जिस की स्थिति और प्रवृत्ति अपने अधीन है, उसे स्वतन्त्र सत्ता वाला और जिस की स्थिति और प्रवृत्ति पराधीन है, उसे परतन्त्र सत्ता वाला कहते हैं। और जिस लिये समस्त जड़ चेतन की स्थिति प्रवृत्ति ब्रह्म के अधीन है, अर्थात् ब्रह्म इन दोनों का आत्मा है, नियन्ता है, व्यापक है और आधार है, इस लिये ब्रह्म से इन का अभेद भी वर्णन किया है। अभेद के बोधक सारे वाक्य इसी अभिप्राय से हैं।

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि से विलक्षण, ज्ञान

(११३) जीव का वर्णन। — स्वरूप जानने वाला जीवात्मा है। 'अहं' ' मैं ' इस प्रतीति का विषय है। अणु परिमाण है। प्रति शरीर भिन्न २ है। संख्या में अनन्त है। बन्धमोक्ष के योग्य है, उस की स्थिति प्रवृत्ति परमेश्वर के अधीन है॥

(११४) अचेतन के तीन भेद। — अचेतन पदार्थ तीन प्रकार का है-प्राकृत, अप्राकृत और काल।

सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीन गुणों का आश्रयभूत

(११५) प्राकृत द्रव्य का वर्णन। — द्रव्य प्राकृत है। वह नित्य है। यह प्राकृत द्रव्य ही अपने गुणों द्वारा देहधारियों के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि रूप से परिणत हो कर जीवों के बन्धन का हेतु बनता है। महत्तत्त्व से लेकर स्थल

ब्रह्माण्ड तक सारे जगत् का उपादान है । प्राकृत का कार्य सारा अनित्य है ॥

प्रकृति और काल से भिन्न एक और अचेतन पदार्थ है,

(११६) अप्राकृत का वर्णन

वह विष्णु की नित्य विभूतियां हैं, इन्हीं को **परमव्योम** वा विष्णु का **परमपद** कहा है। यह भगवान् के, उस के पार्श्वचरों के और मुक्त जनों के अनेक प्रकार के भोग के योग्य हैं। इन में कभी परिणाम नहीं होता है, यह नित्य हैं। यही **अप्राकृत** हैं।

तीसरा अचेतन पदार्थ काल है । काल नित्य है, और

(११७) काल का वर्णन।

विभु है। उत्पत्ति वाली हर एक वस्तु काल के अधीन है । काल सब का नियामक हो कर भी परमेश्वर का नियम्य ही है ॥

समाप्त।

—:०:—

# सूचीपत्र

## संस्कृत के अनमोल रत्न

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफैसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमैन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है। इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो॥

(१) **श्री वाल्मीकि रामायण**—भाषा टीका समेत। वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है। टीका बड़ी सरल है। इस पर ७००) इनाम मिला है। भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) **महाभारत**-इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है। दो भागों में छपा है। प्रथम भाग ६॥) द्वितीय भाग ६।) दोनों भाग १२।

(३) **भगवद्गीता**-पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध। इस पर ३००) इनाम मिला है। मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य ।-)

**गीता गुटका**—सरल भाषा टीका समेत ॥ु

(४) **११ उपनिषदें**—भाषा भाष्य सहित—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १-ईश उपनिषद | ≡) | ७-तैत्तिरीय उपनिषद् | ॥) |
| २-केन उपनिषद | ≡) | ८-ऐतरेय उपनिषद् | ≡) |
| ३-कठ उपनिषद | ।≡) | ९-छान्दोग्य उपनिषद् | २) |
| ४-प्रश्न उपनिषद् | ।-) | १०-बृहदारण्यक उपनिषद् | २।) |
| ५,६-मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी | ।=) | ११-श्वेताश्वतर उपनिषद् | ।-) |
| | | उपनिषदों की भूमिका | ।-) |

(५) मनुस्मृति—मनुस्मृति पर टीकाएं तो बहुत हुई हैं, पर यह टीका अपने ढंग में सब से बढ़ गई है। क्योंकि एक तो संस्कृत की सारी पुरानी टीकाओं के भिन्न २ अर्थ इस में दे दिये हैं। दूसरा इसका हर एक विषय दूसरी स्मृतियों में जहां २ आया है, सारे पते दे दिये हैं। तिस पर भी मूल्य केवल ३।) है।

(६) निरुक्त—इस पर भी २००) इनाम मिला है ४॥)

७—योगदर्शन १॥)
८—वेदान्त दर्शन ४)
९—वैशेषिक दर्शन १॥)
१०—सांख्य शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥।)
११—नवदर्शन संग्रह १।)
१२—आर्य-दर्शन १॥)
१३—न्याय प्रवेशिका ॥=)
१४—आर्य-जीवन १॥)
१५—दिव्य जीवन १)
१६—आर्य पञ्चमहायज्ञ पद्धति।-)
१७—स्वाध्याय यज्ञ १)
१८—वेदोपदेश १)
१९—वैदिक स्तुति प्रार्थना ≡)
२०—पारस्कर गृह्यसूत्र १॥।)
२१—बाल व्याकरण, इस पर २००) इनाम मिला है ॥)
२२—सफल जीवन ॥)
२३—प्रार्थना पुस्तक -)॥

२६—वात्स्यायन भाष्य सहित न्याय दर्शन भाष्य ४)

वेद और महाभारत के उपदेश -)॥
वेद मनु, और गीता के उपदेश -)॥
वेद और रामायण के उपदेश -)॥
वैदिक आदर्श )॥
अथर्ववेद का निघण्टु ।।=)
हिन्दी गुरुमुखी -)
सामवेद के क्षुद्र सूत्र ॥)
पञ्जाबी संस्कृत शब्दशास्त्र ।=)

शंकराचार्य का जीवन चरित्र और उन के शास्त्रार्थ, तथा कुमारिल-भट्ट का जीवन चरित्र ॥।) औशनस धनुर्वेद।) उपदेश सप्तक ॥-)

नोट—कार्यालय की इन अपनी पुस्तकों के सिवाय और भी सब प्रकार की पुस्तकें रिआयत से भेजी जाती हैं॥

**मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।**